

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186504

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 181.4
V78 S

Accession No. G. H. 2749

Author विनोबा

Title अस्थितप्रज्ञ-दर्शन १९६३

This book should be returned on or before the date
last marked below.

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

पांचवीं बार : १९६३

मूल्य

सवा रुपया

Checked 1969

मुद्रक
सत्यप्रकाश गुप्ता,
नवीन प्रेस
दिल्ली

प्रकाशकीय

विनोबाजी की इस पुस्तक का पांचवां संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है। इससे भी अधिक हर्ष की बात यह है कि 'गीता-प्रवचन' के प्रसार के साथ-साथ इस पुस्तक का प्रसार भी बढ़ रहा है। विनोबाजी के पत्रांश से, जो उनके निवेदन के साथ हमने जोड़ दिया है, पता चलता है कि वह इस पुस्तक को कितना महत्त्व देते हैं और इसके प्रसार के लिए वह कितने इच्छुक हैं।

आशा है, पाठक इसके प्रचार व प्रसार में अधिकाधिक सहयोग देने की कृपा करेंगे।

मूल मराठी ग्रंथ से मिलाकर और अनेक उपयोगी सुधार सुझाकर पहले तथा दूसरे दोनों संस्करणों के लिए श्री कृष्णचंद्रजी ने जो परिश्रम किया है, उसके लिए हम उनके आभारी हैं।

—मंत्री

निवेदन

उन्नीससौ चवालीस के जाड़ों में सिवनी-जेल में कुछ लोगों के सामने 'स्थित-प्रज्ञ-लक्षण' पर दिये गए ये व्याख्यान हैं। सारे हिन्दुस्तान में हजारों सत्याग्रही स्त्री-पुरुष रोज शाम को प्रार्थना में इन लक्षणों का पाठ भक्ति-भाव से करते हैं। उनके उपयोग के लिए ये व्याख्यान पुस्तक-रूप में उपस्थित किये गए हैं। शास्त्र-सन्तोषार्थ उनमें आवश्यक परिवर्तन भी किया गया है।

स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में एक समग्र दर्शन भी भरा हुआ है, उसे खोलकर दिखाने का इनमें प्रयत्न किया गया है। संभव है, उसका कुछ भाग पाठकों को पहले ही वाचन में हृदयगम न हो सके; परन्तु अनेक बार पढ़कर चिन्तन करते रहने से, और जितना समझ में आ गया है, उतने का प्रयोग करते रहने से, धीरे-धीरे अनुभव के द्वारा मारा आशय खुल जायगा।

तीन वर्षों के निदिध्यास से जो अर्थ स्थिर हुआ, उसका विवरण यहां किया है। इसमें कुछ कमी-बेशी होगी ही; उसका उपाय यही है कि सबकुछ ईश्वरार्पण करके छुट्टी पावे। मेरे विचार में इसी हेतु से यह प्रकाशित किया जा रहा है।

परंधाम, पवनार

—विनोबा

१२ अप्रैल, १९४६

पुनश्च :

'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' एक शास्त्रीय पुस्तक है और साधकों को उससे बहुत मदद मिलती है, ऐसा अनुभव हुआ है। 'गीता-प्रवचन' के बाद की यह पुस्तक है। 'गीता-प्रवचन' जिसने पढ़ ली, वह 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' का अधिकारी हो जाता है। साधक-मण्डली में उसका स्वाभाविक प्रचार हो रहा है।

१६-१०-'५३ के पत्र से

—विनोबा

विषय-सूची

पहला व्याख्यान

१७-२४

[१]

- १ गीता में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का विशेष स्थान
- २ पूर्व-भूमिका—सांख्य-बुद्धि व योग-बुद्धि
- ३ योग-बुद्धि की आखिरी मंजिल—स्थिर समाधि, अतएव स्थितप्रज्ञता
- ४ तद्विषयक जिज्ञासा

[२]

- ५ दुहरी समाधि : वृत्तिपरक व स्थितिपरक
- ६ स्थितप्रज्ञ की समाधि वृत्ति नहीं है
- ७ इस विषय में गीता व योगसूत्रों की एकवाक्यता

[३]

- ८ 'स्थितप्रज्ञ' में कम्प व वक्रता नहीं
- ९ कम्प व वक्रता का अधिक विश्लेषण
- १० बुद्धि व प्रज्ञा का भेद
- ११ शरीर-शक्ति से बुद्धि-शक्ति की विशेषता

दूसरा व्याख्यान

२५-३३

[१]

- १२ समाधि का कुछ और विवेचन
- १३ स्थितप्रज्ञ की समाधि की निषेधक और विधायक मिलाकर पूर्ण व्याख्या
- १४ निषेधक व्याख्या : निःशेष कामना-त्याग
- १५ विधायक व्याख्या : आत्म-दर्शन
- १६ आत्म-दर्शन व कामना-त्याग परस्पर कार्य-कारण हैं

[२]

- १७ कामना-त्याग की चार प्रक्रियाएं
 १८ कर्म-योग की व्यापक प्रक्रिया
 १९ ध्यान-योग की एकाग्र प्रक्रिया
 २० ज्ञान-योग की सूक्ष्म प्रक्रिया
 २१ भक्ति-योग की विशुद्ध प्रक्रिया
 २२ विशुद्ध प्रक्रिया सब तरह से सुरक्षित

तीसरा व्याख्यान

३४-४०

[१]

- २३ स्थितप्रज्ञता के सुलभ साधन : (अ) सुख-दुःख सह लो
 २४ (आ) वृत्ति न उठने दो
 २५ स्थितप्रज्ञता का सुलभतर साधन : वृत्तियों के साथ बह न जाओ
 २६ स्थितप्रज्ञता का सुलभतम साधन : इन्द्रियों का नियमन करो

[२]

- २७ इन्द्रिय-नियमन वस्तुतः कठिन नहीं है
 २८ इन्द्रिय-नियमन के दो प्रकार : संयम व निग्रह
 २९ उसका और अधिक विवरण
 ३० इन्द्रिय-जय का गीता की दृष्टि में महत्त्व

चौथा व्याख्यान

४१-४७

[१]

- ३१ इन्द्रिय-जय के विज्ञान की प्रस्तावना
 ३२ प्राथमिक निराहार-साधना, रसनिवृत्ति-पूर्णता
 ३३ पूर्ण व्याख्या के साथ ही प्राथमिक साधना दिखा देनेवाली गीता की गुरु-
 दृष्टि
 ३४ प्राथमिक साधना स्पष्टतः ही अपूर्ण, परन्तु इसलिए ढोंग नहीं
 ३५ साधना की पूर्णता पर-दर्शन, अर्थात् आत्म-दर्शन

[२]

- ३६ इन्द्रियों का उद्दाम या जबर्दस्त स्वभाव : एतद्विषयक मनु का वचन
 ३७ मनु की व गीता की भूमिका समान नहीं
 ३८ ज्ञानी व प्रयत्नवान् मनुष्य के मन को भी इन्द्रियां खींच सकती हैं
 ३९ परन्तु ज्ञान व तितिक्षापूर्वक प्रयत्न—यही दो शक्तियां मनुष्य के पास हैं
 ४० जब ये भी काफी न हों तो क्या करें ?

पांचवां व्याख्यान

४८-५५

[१]

- ४१ मनु व गीता के वचनों का अधिक विवरण
 ४२ युक्तिपूर्वक जितना हो सके इन्द्रिय-निग्रह करके जब अपना बल नाकाफी हो तो भक्ति का आवाहन करो
 ४३ भक्ति की आवश्यकता
 ४४ प्राप्त शक्ति का पूर्ण उपयोग कर लेने पर ही ईश्वर से अधिक शक्ति मांगने का अधिकार है
 ४५ इसके लिए गजेन्द्र का संशोधित दृष्टान्त
 ४६ ईश्वर-शरणता में पराधीनता नहीं है

[२]

- ४७ स्थूल सांसारिक कार्य ईश्वर की सहायता के विषय नहीं
 ४८ ईश्वर से याचना—मांगने—की उचित रीति
 ४९ मेरे लिए क्या उचित है, यह एक ईश्वर ही जानता है, अतः सकाम प्रार्थना न करें
 ५० सकाम भक्ति को भी शर्त के साथ मान्यता

छठा व्याख्यान

५६-६५

[१]

- ५१ अबतक के विवेचन का सारांश : यतत् + विपश्चित + मत्पर = स्थितप्रज्ञ
 ५२ ईश्वर-परायणता स्वतंत्र ध्येय है

- ५३ ध्येय विधायक होना चाहिए
 ५४ ब्रह्मचर्य, अर्थात् ईश्वर-परायणता, इस तरह का विधायक ध्येय है
 ५५ ईश्वर-भक्ति ईश्वर-भक्ति के ही लिए है
 ५६ भक्त की भूमिका प्राकृतिक चिकित्सा की तरह

[२]

- ५७ अनन्यता सकामता को भी बचा लेती है
 ५८ सुदामदेव का दृष्टांत
 ५९ भक्त को सब बातों में ईश्वर की कृपा दिखाई देती है
 ६० अनन्य भक्त की सकामता व्यापक सद्भावना ही है : एक लौकिक दृष्टांत

[३]

- ६१ ईश्वर-परायणता ही मुख्य वस्तु है : वासना को ईश्वर-परायण बनाओ
 ६२ वासना मूलतः बुरी नहीं है : ईश्वर-परायणता से वासना का रूपान्तर होता है
 ६३ निष्कामता, अनन्यता और ईश्वर-भावना हो तो फिर भौतिक विद्या की उपासना भी पावन हो सकती है

सातवां व्याख्यान

६६-७३

[१]

- ६४ इन्द्रिय-जय के तत्त्व-ज्ञान की प्रस्तावना । विषय-चिन्तन से बुद्धि-नाश तक की व्यतिरेक परम्परा
 ६५ विषय-चिन्तन से संग और संग से काम पैदा होता है
 ६६ फिर काम से क्रोध उत्पन्न होता है : इस विषय में भाष्यकारों के स्पष्टीकरण
 ६७ एकनाथ का हल
 ६८ 'क्रोध' शब्द से यहां 'क्षोभ' समझना है
 ६९ क्रोध का अर्थ है क्षोभ, अर्थात् चित्त की अप्रसन्नता
 ७० कामना से चित्त-क्षोभ क्यों होता है ?

[२]

- ७१ क्रोध से मोह होता है, अर्थात् बुद्धि भोथरी होती है

७२ मोह से स्मृति-भ्रंश होता है, अर्थात् यह होश नहीं रहता कि हम कौन हैं

७३ भान नहीं, इसका अर्थ क्या ?

७४ स्मृति-भ्रंश से बुद्धि-नाश

आठवां व्याख्यान

७४-८०

[१]

७५ पिछले विवेचन का सार : बुद्धि-नाश ही विनाश की अन्तिम सीढ़ी

७६ गीता को शब्दों के सूक्ष्म अर्थ ही अभिप्रेत हैं

७७ स्मृति बनाम स्मरण-शक्ति

७८ आत्म-स्मृति के अभाव में संस्कार-पराधीनता

७९ गीता-श्रवण का फलित : मोह-नाश और तज्जन्य स्मृति-लाभ

८० 'मोहनाश' का अर्थ है कर्त्तव्य का खुलासा

८१ इसी सिलसिले में क्रोध के अर्थ के विषय में विचार

८२ 'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः' अर्थात् मैं स्थितप्रज्ञ हो गया

[२]

८३ नारद के मुझाव के अनुसार शब्दों के स्थूल अर्थ भी अपनी भूमिका के अनुसार लिये जा सकते हैं

८४ बुद्धिनाश-परम्परा के विभाजन का रहस्य : पहले मन पर आक्रमण, फिर बुद्धि पर

नवां व्याख्यान

८१-८८

[१]

८५ स्थिर-बुद्धि की परम्परा आरम्भ : राग-द्वेष छोड़कर इन्द्रियों का उपयोग करनेवाला प्रसाद पाता है

८६ दोनों परम्पराओं की मुख्य सीढ़ियाँ : बीज, शक्ति, फलित

८७ 'प्रसाद' शब्द के अर्थ के संबंध में गलतफहमी

८८ वस्तुतः प्रसाद के माने हैं प्रसन्नता, अर्थात् स्वास्थ्य

८९ प्रसन्नता से सब दुःख सदा के लिए मिट जाते हैं, क्योंकि दुःख-मात्र मनो-मल का परिणाम है

[२]

६० प्रसन्नता से स्थिर बुद्धि सहज साध्य

९१ जैसे बालक की

९२ समाधि कहते हैं मूल स्थिति को, उसे बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं

९३ चित्त-शुद्धि हुई कि समाधि लगी समझिये

९४ फिर भी तात्कालिक उपाय के रूप में बाह्य साधन भी उपेक्षा-योग्य नहीं

दसवां व्याख्यान

८६-८६

[१]

९५ बुद्धि-नाश की अनर्थकारिता बताने के लिए जीवन के पांच मूल्यों का अवतरण

९६ सर्वाधार संयम : संयम के बिना बुद्धि नहीं

९७ आगे का अध्याहार : बुद्धि के बिना भावना नहीं

[२]

९८ अध्याहार का मर्म : बुद्धि से भावना अलग नहीं; परिनिष्ठित बुद्धि ही भावना है

९९ परिनिष्ठित बुद्धि-रूप भावना के उदाहरण

१०० प्रगत समाज में ऐसी अनेक भावनाएं समाई रहती हैं। उन्हींसे समाज में शांति रहती है

१०१ परन्तु समाज में पैबस्त भावना सर्वथा बुद्धियुक्त ही होती हो सो बात नहीं, अतः भावना के कुशल संशोधन की आवश्यकता

१०२ संशोध्य भावना का एक उदाहरण : मांसाहार-निवृत्ति

१०३ दूसरा उदाहरण : अन्नदान-सम्बन्धी श्रद्धा

१०४ स्थिर प्रज्ञा पर ही स्थापित भावना शांतिदायी

१०५ अतः स्थितप्रज्ञ का नेतृत्व मानना चाहिए

ग्यारहवां व्याख्यान

९७-१०३

[१]

१०६ 'भावना' शब्द का थोड़ा और विचार

१०७ बुद्धि-प्रधानता बनाम भावना-प्रधानता—यह भेद स्थित-प्रज्ञ के अन्दर लोप हो जाता है।

- १०८ बुद्धि को भावना में परिणत करने के उपाय : जप, ध्यान व आचरण
 १०९ भावना का अर्थ भक्ति भी हो सकता है : 'भक्ति' के बिना शांति नहीं,
 शांति के बिना सुख नहीं

[२]

- ११० परन्तु सुख का अर्थ मन का सुख नहीं; मन का सुख जुदा है, मनुष्य का
 सुख जुदा है
 १११ 'होना'-पन का सुख ही सच्चा सुख : वही सतत अरुचि-युक्त सुख
 ११२ कुम्भक के उदाहरण से इसे समझें
 ११३ आत्म-सुखानुभूति का व्यवहार से विरोध नहीं है; इतना देख लेना काफी
 है कि आत्मबोध बाह्य उद्योगों में खर्च न हो
 ११४ आत्मबोध को खंडित न हाने देने की तरकीब : पहले क्षण आघात का असर
 न होने दें

बारहवां व्याख्यान

१०४-१११

[१]

- ११५ इन्द्रियों के पीछे जानेवाला मन बुद्धि को भी खींच ले जाता है, इसलिए
 संयम की आवश्यकता
 ११६ बुद्धि नौका की तरह तारक; परन्तु मन की पकड़ में आ जाय तो वही मारक
 हो जाती है
 ११७ बुद्धि और मन सदा के लिए जुदा नहीं हो सकते । या तो बुद्धि मन के वश
 में हो जायगी, या मन बुद्धि के वश में रहेगा । दूसरी बात श्रेयस्कर

[२]

- ११८ ज्ञानदेव का खास सुझाव : ज्ञानी के लिए भी असावधान होकर इन्द्रियों को
 खुला छोड़ देने की गुंजाइश नहीं
 ११९ वस्तुतः ज्ञानी नियम से संयमी नहीं रहता, स्वभाव से रहता है
 १२० ज्ञानी तो ठीक, परन्तु साधक को भी संयम भार-रूप नहीं होता
 १२१ स्थित-प्रज्ञ के लिए असंयम अशक्य : क्योंकि स्थिर बुद्धि का आधार ही
 संयम है

१२२ सावधानता की अपेक्षा न रखनेवाली सहजावस्था एक प्रकार से मानवीय आकांक्षा-मात्र है, अतः सावधानी का संकेत हर हालत में उचित ही है

[३]

१२३ इस तरह संयम की आवश्यकता आदि से अन्त तक सिद्ध हुई, अतः निगमन
तेरहवां व्याख्यान ११२-१२१

[१]

१२४ अन्तिम विभाग : स्थित-प्रज्ञ की स्थिति का खुलासा

१२५ खुलासे का पहला सांकेतिक श्लोक । इनकी रात, सो उसका दिन; और उसकी रात, सो इनका दिन

१२६ अर्थात्, स्थित-प्रज्ञ की कुल जीवन-दृष्टि ही दूसरों से उलटी होती है

१२७ जैसे खाना

१२८ यही बात नींद की

१२९ यही बात मामूली व्यवहार में

[२]

१३० यहां के रूपक की भाषा में सांख्य-बुद्धि, योग-बुद्धि और स्थित-प्रज्ञ के लक्षण, तीनों एक में लपेट दिये हैं

१३१ सांख्य-बुद्धि का स्वरूप; आत्मा का अकर्त्तापिन, तदनुसार प्रस्तुत श्लोक का पहला अर्थ

१३२ योग-बुद्धि का स्वरूप : फल-त्याग

१३३ आनुषंगिक चर्चा—‘मा फलेषु’ का यह अर्थ, कि फल का अधिकार नहीं, गलत है

१३४ फल का अधिकार तो है, पर उसे छोड़ देना है

१३५ नीति-शास्त्र की भूमिका : जिसका कर्म उसको फल

१३६ योग-बुद्धि की भूमिका इससे ऊंची : तदनुसार इस श्लोक का दूसरा अर्थ

१३७ स्थित-प्रज्ञ के लक्षणानुसार इस श्लोक का तीसरा अर्थ

१३८ गीता के श्लोक में बताये तीनों अर्थों के संकेत

चौदहवां व्याख्यान

१२२-१३०

[१]

१३६ खुलासे का दूसरा सांकेतिक श्लोक : ज्ञानी समुद्र की तरह सब काम पचा जाता है

१४० 'काम' शब्द के अर्थ की छान-बीन

१४१ स्थित-प्रज्ञ सब काम पचा लेता है, यह उसके ज्ञान का गौरव है

[२]

१४२ ज्ञान के गौरव और ज्ञान-स्वरूप के बीच में उसका नीति-मूत्र है

१४३ बीच में, अर्थात् कहां, यह तत्कालीन समाज की भूमिका पर अवलम्बित रहेगा

१४४ ज्ञानी के नीति-मूत्रों के संबंध में ग्रांथिक कल्पना अनर्थकारक

[३]

१४५ इस श्लोक को देखने की दूसरी दृष्टि; स्थित-प्रज्ञ भावावस्था में सब शुभ देखता है

१४६ शुभ + अशुभ = शुभ; क्योंकि अशुभ = ०

१४७ अशुभ मिथ्या, साधना मिथ्या, अशुभ का मरण मिथ्या । केवल एक शुभ सत्य : यह है भावावस्था

पन्द्रहवां व्याख्यान

१३१-१३६

[१]

१४८ स्थितप्रज्ञ-लक्षणों का उपसंहार : स्थित-प्रज्ञ को कोई कामना नहीं, जिजीविषा नहीं ।

१४९ मुमूर्षा भी नहीं, मरण की भीति भी नहीं

१५० जीवन की अभिलाषा ही वास्तविक मरण की भीति; उसके जाते ही जीवन आनन्दमय हो जाता है

१५१ 'चरति' पद के द्वारा यही सूचित किया है

[२]

१५२ 'चरति' का अर्थ 'विषयान् चरति' नहीं

- १५३ 'चरति' का अर्थ आश्रम-संन्यास नहीं
 १५४ 'चरति' याने विहार करता है—ज्ञानदेव की भाषा में
 १५५ कामना और जीवनाभिलाषा छूटने पर अब शरीर बाकी रहा सो केवल
 उपकारार्थ : 'निर्ममो निरहंकारः' पद से यही भाव सूचित किया है

[३]

- १५६ पूर्वोक्त भावनावस्था और क्रियावस्था से भिन्न स्थित-प्रज्ञ की यह ज्ञाना-
 वस्था विल्कुल अवर्णनीय
 १५७ भावनावस्था में समग्रता है
 १५८ क्रियावस्था में विवेक है
 १५९ तीनों अवस्थाएं मिलाकर स्थित-प्रज्ञ की एक ही अखण्ड वृत्ति

सोलहवां व्याख्यान

१४०-१४८

- १६० स्थित-प्रज्ञ की तिहरी अवस्था के मूल में ईश्वर का त्रिविध स्वरूप
 १६१ ईश्वर का पहला रूप केवल शुभ
 १६२ दूसरा विश्व-रूप
 १६३ तीसरा शुभाशुभ से परे ब्रह्म-संज्ञित
 १६४ गीता की परिभाषा में 'सत्', 'सदसत्' 'न सत् नासत्'
 १६५ तर्क से सदसत् की चार कोटियां हो सकती हैं। इनमें तीन ही ईश्वर पर
 चरितार्थ होती हैं

[२]

- १६६ ईश्वर के और तदनुसार स्थितप्रज्ञ के जीवन का यह विविध स्वरूप 'ज्ञान-
 यजेन चाप्यन्ये' श्लोक में सूचित
 १६७ इसीका और अधिक स्पष्टीकरण
 १६८ बाह्य जीवनाकार में भेद दिखाई देने पर भी सभी स्थित-प्रज्ञों को तीनों
 अवस्थाओं का अनुभव होता है

[३]

- १६९ ये अवस्थाएं परस्पर-सम्बद्ध, परस्पर-उपकारक ही हैं
 १७० इस विषय में सनातनियों की तर्क-प्रणाली भ्रमपूर्ण है

१७१ क्रियावस्था पर भावावस्था का प्रभाव : सोने की अंगूठी व सभा के अध्यक्ष का दृष्टांत

१७२ भावावस्था पर क्रियावस्था का प्रभाव : कुष्ठरोगी-सेवा का दृष्टांत

सत्रहवां व्याख्यान

१४६-१५७

[१]

१७३ भाव द्वारा क्रिया का नियमन होता है, इसका अधिक विवरण

१७४ वही बात ज्ञान के द्वारा भी । उसीसे निष्काम कर्मयोग का जन्म होता है

१७५ 'मुक्त को चिन्तते खुद ही मुक्त होते ।' अतः स्थित-प्रज्ञ की अवस्था का ज्ञान साधक व समाज के लिए आवश्यक

१७६ स्थित-प्रज्ञ की त्रिमूर्ती 'ॐ तत् सत्' के द्वारा सूचित

१७७ पहला पद 'ॐ' । ॐ शब्द भावावस्था की लब्धि के लिए भावनीय है

१७८ ॐ अक्षर वर्ण-मात्र का प्रतीक है

१७९ ॐ की व्युत्पत्ति : ॐ एक धातुरूप है

१८० दूसरा पद तत्—ज्ञानावस्था की प्राप्ति के लिए चिन्तनीय

१८१ तीसरा पद सत्—क्रियावस्था की सिद्धि के लिए सेवनीय

१८२ कुल मिलाकर 'ॐ तत् सत्' यह मंत्र व्यापक, अलिप्त और परिशुद्ध जीवन का वाचक है, वही किसी भी पूर्ण विचार का स्वरूप है

१८३ उदाहरणार्थ—सत्याग्रह को ले

१८४ यही बात सारे जीवन पर लागू होती है

[३]

१८५ उपसंहार—अर्जुन के प्रश्न का आकार और उसके अनुसार स्थितप्रज्ञ-लक्षणों का प्रवाह

अठारहवां व्याख्यान

१५८-१६८

[१]

१८६ स्थितप्रज्ञ-लक्षणों की अनुभवसिद्ध फलश्रुति

१८७ 'स्थिति' शब्द का स्वारस्य

- १८८ आत्म-ज्ञान और ध्यान-समाधि का भेद—ध्यान उतर जाता है
 १८९ आत्म-ज्ञान और अन्य ज्ञान का भेद : अन्य ज्ञान भार-रूप
 १९० आत्म-ज्ञान, ध्यान और इतर ज्ञानों का अधिक विवरण
 १९१ ब्राह्मी स्थिति अन्तकाल में भी टिकती है
 १९२ ब्राह्मी स्थिति में 'अगर-मगर' के लिए अवकाश नहीं है
 १९३ शंकराचार्य का विशेष अर्थ उपयुक्त, लेकिन अनावश्यक

[२]

- १९४ गीता का परम लक्ष्य ब्रह्म-निर्वाण; वही जीवन की सफलता
 १९५ ब्रह्म-निर्वाण का अर्थ है, देह को फेंककर व्यापकतम होना
 १९६ इसी स्थिति में लोक-संग्रह परिपूर्ण होता है
 १९७ वहां देह नहीं है, क्योंकि देह की आवश्यकता नहीं है

[३]

- १९८ बौद्धों ने निपेधक शब्द 'निर्वाण' ले लिया
 १९९ वैदिकों को 'ब्रह्म-निर्वाण' विधायक भाषा मधुर प्रतीत हुई
 २०० वस्तुतः दोनों एक ही हैं



स्थितप्रज्ञ-दर्शन

पहला व्याख्यान

१

‘स्थितप्रज्ञ के लक्षण’ गीता का अतिशय प्रसिद्ध विभाग है। ठेठ प्राचीन काल से लेकर आज तक इतनी प्रसिद्धि गीता के किसी भी दूसरे विभाग को नहीं मिली। इसका कारण है। ‘स्थितप्रज्ञ’ गीता का आदर्श पुरुष-विशेष है। यह शब्द भी गीता का खास शब्द है। गीता के पूर्ववर्ती ग्रंथों में वह नहीं मिलता। गीता के बाद के ग्रंथों में वह खूब मिलता है। स्थितप्रज्ञ की तरह गीता में आदर्श पुरुषों के और भी वर्णन हैं। कर्मयोगी, जीवन्मुक्त, योगारूढ़, भगवद्भक्त, गुणातीत, ज्ञाननिष्ठ इत्यादि अनेक नामों से अनेक आदर्श चित्र भिन्न-भिन्न स्थलों पर आये हैं, परन्तु इन आदर्शों को औरों ने भी उपस्थित किया है। गीता में ये आदर्श भिन्न-भिन्न साधना बताने के सिलसिले में उपस्थित किये गए हैं। वे स्थितप्रज्ञ से भिन्न कोई अन्य पुरुष हों, सो बात नहीं। ‘स्थितप्रज्ञ’ के ही वे अनेक पहलू हैं। उन सबके वर्णन में स्थितप्रज्ञ के लक्षण गीता ने प्रायः कहीं-न-कहीं गूँथ ही दिये हैं। जैसे—पाँचवें अध्याय में संन्यासी अथवा योगी पुरुष के वर्णन में ‘स्थिर-बुद्धि’ शब्द डाला है। बारहवें अध्याय में भक्त के लक्षणों की समाप्ति ‘स्थिरमतिः’ शब्द के द्वारा की है। बुद्धि की स्थिरता हुए बिना कोई भी आदर्श पूरा नहीं होता। इसीलिए यह प्रकरण इतना महत्त्वपूर्ण माना जाता है। जीवन-मुक्ति की सिद्धि के लिए सबूत पेश करते हुए

भाष्यकार^१ ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण उपस्थित किये हैं, किन्तु अंतिम आदर्श का, ध्येयमूर्ति का, साधक की दृष्टि से इतना सविस्तर विवेचन यह एक ही है।

स्थितप्रज्ञ के लक्षण समझने के लिए उसके पहले की भूमिका का विचार कर लेना उपयोगी होगा। यह प्रकरण गीता के दूसरे अध्याय के अन्त में आया है। इसके पूर्व-भूमिका : सांख्य-बुद्धि पहले विवेचन के दो भाग आ गये हैं—
व योग-बुद्धि

(१) सांख्य-बुद्धि अर्थात् आत्म-ज्ञान, अथवा ब्रह्मविद्या-शास्त्र और (२) योग-बुद्धि अर्थात् आत्मज्ञान के अनुसार जीवन की कला। शास्त्र व कला मिलकर ब्रह्मविद्या परिपूर्ण बनती है। किसी भी विद्या पर यह बात घटती है। संगीत-विद्या को ही लें। किसीने संगीत-शास्त्र तो सीख लिया, परन्तु गले से संगीत निकालने की कला नहीं साधी तो वह संगीत किस काम आवेगा? इसके विपरीत, यदि गले में कला तो है परन्तु शास्त्र-ज्ञान नहीं, तो फिर प्रगति का मार्ग भी खत्म समझिये। वही स्थिति अध्यात्म-विद्या की, अतएव मनुष्य के जीवन की भी है। मनुष्य का तत्त्वज्ञान उसकी बुद्धि में गुप्त रहेगा, प्रकट होगा उसका आचरण। उसके आचरण से ही उसके तत्त्वज्ञान का नाप संसार को व उसको भी मालूम होगा। आचरण व ज्ञान में अन्तर भले ही रहे, पर विरोध हरगिज नहीं रहना चाहिए और अन्तर भी सतत कम करते जाना चाहिए। यह काम है योग-बुद्धि का। तुलसीदास ने सन्तों की उपमा त्रिवेणी से दी है। भक्ति को गंगा की व कर्मयोग को यमुना की उपमा देकर ब्रह्मविद्या को उन्होंने गुप्त सरस्वती का स्थान दिया है। इस उपमा के द्वारा उन्होंने यह सूचित किया है कि ब्रह्मविद्या सदैव सरस्वती की तरह अप्रकट ही रहने वाली है। उसे प्रकट करेगी योग-बुद्धि। साधक को प्रत्यक्ष मार्ग-दर्शन कराती है योग-बुद्धि। सांख्य-बुद्धि योग-बुद्धि की बुनियाद-जैसी है। बुनियाद के बिना घर नहीं बन सकता, बिना

घर के बुनियाद बेकार है। दियासलाई में आग अव्यक्त रूप से रहती है। दियासलाई रगड़ने से वह प्रकट होती है। अव्यक्त बिजली का कार्य सूक्ष्म बुद्धि ही जान सकती है। वही जब व्यक्त हो जाती है तो उसका सामर्थ्य हर किसीको दिखाई देता है। सांख्य-बुद्धि व योग-बुद्धि का पारस्परिक सम्बन्ध ऐसा ही है।

योग-बुद्धि का पहला स्वरूप है कर्तव्य-निश्चय। कर्तव्य-निश्चय हुए बिना साधना आरम्भ ही नहीं होती। निश्चय के बाद एकाग्रता, योग-बुद्धि की आखिरी मंजिल : अर्थात् साधना में तन्मयता, फल पर ध्यान न देते हुए साधना में डूब जाने की वृत्ति, साधनैकशरणता अथवा साधन-निष्ठा। यह दूसरी मंजिल है। उसके

आगे की मंजिल है चित्त की निर्विकार दशा अथवा समता, अतएव समाधि। वही जब स्थिर, अचल हो जाती है, किसी भी झोंके से जब डगमगाती नहीं है तो स्थित-प्रज्ञावस्था प्राप्त होती है। जिसपर विकारों की, विचारों की, बल्कि वेदवचनों की भी सत्ता बाकी नहीं रही है, जिसकी समाधि अचल है, स्थिर होगई है, वह स्थितप्रज्ञ है। इस तरह योग-बुद्धि की ये चार मंजिलें हैं—(१) साधन-निश्चय, (२) फल-निरपेक्ष एकाग्रता, (३) समता अथवा समाधि, और (४) स्थिर-समाधि—अखण्ड, निश्चल और सहज। यही स्थित-प्रज्ञावस्था है।

भगवान् के इस विवेचन से कि योग-बुद्धि का अन्तिम परिपाक स्थिर समाधि में, स्थितप्रज्ञता में होता है, अर्जुन के हाथ प्रश्न-बीज लगा। इसलिए उन्हीं शब्दों को पकड़कर, उसने यह जानने के लिए कि स्थितप्रज्ञ कैसा होता है, पूछा :

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।

स्थितधीः किं प्रमाद्येत किमासीत व्रजेत किम्॥

ऐसे स्थितप्रज्ञ का लक्षण क्या है? वह कैसे बोलता है, कैसे रहता है, कैसे फिरता है, यह सब मुझे बताइये। इसके उत्तर में भगवान् ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताये हैं, जो कि हमारी चर्चा का विषय है।

२

भगवान् के विवेचन को समझने के पहले यहां 'समाधि' शब्द को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, क्योंकि यह शब्द बहुत भ्रमोत्पादक

दुहरी समाधि : वृत्ति-

परक व स्थितिपरक

है। समाधि का आमतौर पर अर्थ किया जाता है—ध्यान-समाधि। यदि यह बात हो कि समाधि में होना यानी जिस बात का वह चिन्तन कर रहा है उसके अलावा उसे दूसरा कोई भी संवेदन नहीं होता, तो फिर अर्जुन का यह प्रश्न ही उड़ जाता है कि समाधिस्थ पुरुष बोलता कैसे है, चलता कैसे है, फिरता कैसे है? इस कठिनाई को देखकर ही कुछ टीकाकारों ने स्थितप्रज्ञ-दशा के दो विभाग कर दिये हैं : (१) समाधि में रहते हुए स्थितप्रज्ञ कैसे बरतता है और (२) समाधि में न रहते हुए कैसे बरतता है—इस तरह दुहरा विवेचन किया है। इस विवेचन में कल्पना तो है, परन्तु उसमें विचार-दोष है। इसमें इस बात का ध्यान नहीं है कि गीता-प्रतिपादित इस जगह की समाधि भिन्न प्रकार की है। चढ़ने व उतरनेवाली समाधि ध्यान-समाधि है। स्थितप्रज्ञ की समाधि इससे भिन्न है। वह ज्ञान-समाधि है। वह न चढ़ती है, न उतरती है। “नैनां प्राप्य विमुह्यति”, इस तरह उसका वर्णन किया गया है। अर्थात् वह एक स्थिति है, वृत्ति नहीं। ध्यान-समाधि एक वृत्ति है। चार-चार दिन टिक जाने पर भी उसके उतरने की अपेक्षा रहती है, वैसी यह समाधि नहीं है।

स्थितप्रज्ञ की समाधि में कोई वृत्ति नहीं है, बल्कि यह निवृत्ति है। ‘निवृत्ति’ शब्द से हमारे लोग घबराते हैं। वे कहते हैं—“यह तो खामोश होकर बैठ जाना है,”

स्थितप्रज्ञ की समाधि

वृत्ति नहीं है

परन्तु यह ठीक नहीं है। खामोश बैठना भी आखिर एक वृत्ति ही है। स्थितप्रज्ञ में ऐसी वृत्ति भी नहीं होती। वह सब तरह से निवृत्त है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह ध्यान नहीं करेगा। किसी सेवा-कार्य का चिन्तन करने के लिए, अथवा फुरसत के समय में, वह कुछ समय ध्यानादि करेगा, परन्तु वह उसका लक्षण नहीं है। उसका

लक्षण तो है स्थिरबुद्धि । कर्मयोग जैसे एक उपयोगी साधन है, वैसे ही ध्यान भी है; परन्तु कर्मयोग की तरह ही ध्यान भी स्थितप्रज्ञ की स्थिति नहीं है ।

पतंजलि के योगशास्त्र की बदौलत 'समाधि' शब्द का अर्थ 'ध्यान-समाधि' रूढ़ हो गया है । परन्तु पतंजलि ने भी ध्यान-समाधि

को अन्तिम स्थिति नहीं माना है । इस विषय में गीता व योग-

सूत्रों की एकवाक्यता

पतंजलि के सूत्र मुख्यवस्थित व अनुभव पर आधारित शास्त्र है । उनके कुल

१८५ सूत्रों में पहले तीन सूत्र सारभूत हैं । ब्रह्मसूत्र में जैसी चतुःसूत्री, वैसी ही योगसूत्र में यह त्रिसूत्री है—(१) अथ योगानुशासनम्; (२) योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ; (३) तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम् । इन तीन सूत्रों में सारा शास्त्र थोड़े में समाप्त हो गया है; परन्तु इसमें समाधि का तो कहीं नाम भी नहीं आया है । प्राप्तव्य तो है योग, और 'चित्तवृत्ति-निरोध' उसकी व्याख्या है । समाधि अर्थात् ध्यान-समाधि भी एक वृत्ति ही है और उसका उपयोग पतंजलि ने वृत्ति-निरोध-रूपी योग की लब्धि के लिए शिरोमणि साधन के तौर पर बताया है । 'श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वकः', यह उनकी योग पर चढ़ने की सीढ़ी है । शुरू में श्रद्धा, उससे वीर्य अर्थात् उत्साह, तत्पूर्वक स्मृति अर्थात् आत्म-स्मरण, तत्परिपाक तन्मयतारूपी ध्यान-समाधि, उससे प्रज्ञा, और प्रज्ञा स्थिर हुई कि वही योग है । इन सीढ़ियों से योगलाभ होता है, ऐसा उन्होंने स्पष्ट कहा है । अर्थात् योग की प्राप्ति के लिए समाधि के बाद उन्होंने प्रज्ञा बताई है । यह 'प्रज्ञा' शब्द पतंजलि ने गीता से ही लिया है । अर्जुन के प्रश्न से पूर्व के श्लोक में भगवान् ने कहा है कि समाधि में बुद्धि के अचल हो जाने पर तुझे योग की प्राप्ति होगी । 'योग' ही पतंजलि का अन्तिम शब्द है । उसका साधन उन्होंने प्रज्ञा बताया है और प्रज्ञा-लब्धि का साधन समाधि को सूचित किया है । समाधि का ध्यान-स्वरूप जाकर जब उसे सदा की सहज स्थिति का स्वरूप प्राप्त होता है, तब वह प्रज्ञा कहलाती है । इस तरह पतंजलि के सूत्रों व गीताकृत विवेचन में समन्वय है ।

३

स्थितप्रज्ञ की कल्पना में बुद्धिवाद की पराकाष्ठा हो गई है। बुद्धि, खालिस बुद्धि को बोध का साधन माना गया है। राग-द्वेषादि विकारों से अलिप्त बुद्धि ज्ञान का वास्तविक साधन हो सकती है। हम कहते हैं कि फलां बात मेरी बुद्धि को नहीं जंचती। गीता कहती है—‘मेरी बुद्धि को’ मत कह; ‘मेरी’ विशेषण को छोड़कर केवल खालिस बुद्धि क्या कहती है, यह देख ! मेरे-पन में अहंकार है, विकार है, संस्कारों की गुलामी है, परिस्थिति का बन्धन है। तू ‘मद्बुद्धिवादी’ है या बुद्धिवादी ? जब बुद्धि विकार-रहित हो जाती है, संव उपाधियों से अलग हो जाती है तो वह स्थित होती है। ‘स्थित होती है’, का मतलब सीधी तनकर खड़ी रहनी है, डगमगाती नहीं, उसमें कम्पन नहीं रहता। ‘सो विकम्पेन योगेन युज्यते’, उसे निष्कम्प योग प्राप्त होता है—ऐसा जो आगे दसवें अध्याय में कहा है, उसका अर्थ यही है। बुद्धि में ज़रा-सा भी कम्प या डगमगाहट, हिचकिचाहट, घबराहट और अनिश्चय बाकी न रहना चाहिए। तभी वह बुद्धि काम देगी और उसे तभी बुद्धि कहेंगे। ‘स्थित’ शब्द का दूसरा अर्थ है ‘सरल’। बुद्धि बिल्कुल सरल होनी चाहिए। उसमें ज़रा भी टेढ़ापन न होना चाहिए। चरखे के तकुए में, महीन सूत कातते वक्त ज़रा भी टेढ़ापन नहीं चल सकता। बिल्कुल सीधे, सरल होने पर ही वह काम देता है। यही हाल बुद्धि का है। चरखे का सरल-सीधा तकुआ स्थित-प्रज्ञ की बुद्धि के लिए उत्कृष्ट उपमा है। सीधे तकुए को अंग्रेजी में ‘ट्रू’ कहते हैं। इस शब्द में बड़ी खूबी है। जिस तकुए में ज़रा भी वक्रता न हो उसे ट्रू, अर्थात् अचूक, कहते हैं। इसी तरह बुद्धि ट्रू, अर्थात् अचूक होनी चाहिए।

कम्प व वक्रता इन दोषों का थोड़ा पृथक्करण कर लेना चाहिए।

कम्प व वक्रता का अधिक

विश्लेषण

वस्तुतः ये दोनों मिलकर एक ही दोष हैं। चरखे के तकुए से यह बात समझ में आ जाती है। जो तकुआ टेढ़ा होता है, वही

कांपता है। यही बात बुद्धि की है। सरल-सीधी बुद्धि कभी कांपेगी नहीं। इस तरह कम्प व वक्रता दोनों के एक-रूप होने पर भी विचार की दृष्टि से उनका पृथक्-पृथक् अर्थ ग्रहण करना चाहिए। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो 'कम्प' मुख्यतः बुद्धि का व वक्रता मन का दोष है। मन एक तरह से बुद्धि का ही भाग है। तो भी विचार की सुविधा के लिए उसे बुद्धि से अलग कर लिया जाता है। छोटे बच्चे का मन बिल्कुल सरल होता है, अतः वह अतिशय वेग से ज्ञान ग्रहण कर सकता है। इसलिए ज्ञान-दृष्टि से ऋजुता सबसे महत्वपूर्ण गुण समझना चाहिए। बिना ऋजुता के निश्चित व निष्कम्प ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। अर्जुन शब्द का अर्थ भी दरअसल 'ऋजु बुद्धिवाला' है।

गीता का 'प्रज्ञा' शब्द विशेष अर्थ का द्योतक है। 'बुद्धि' शब्द सामान्य है। बुद्धि मनुष्य के मनोविकारों के अनुसार बदलने-पलटने वाली होती है। मनुष्य की मानसिक

बुद्धि व प्रज्ञा का भेद कल्पनाओं के रंग बुद्धि पर चढ़ते हैं।

यह रंगीन बुद्धि अचूक निर्णय नहीं कर सकती। जिस बुद्धि पर मानसिक कल्पनाओं का, विकारों का, पसंदगी-नापसंदगी का, वृत्तियों का रंग नहीं चढ़ता, जो केवल ज्ञान का कार्य करती है, वही प्रज्ञा है। प्रज्ञा तटस्थ रहती है। वह ठीक वस्तु-स्वरूप पर लक्ष्य रखकर निर्णय दिया करती है। जब बुद्धि पर रंग चढ़ जाता है तो एक ही बुद्धि की अनेक बुद्धियाँ बन जाती हैं। दया का रंग चढ़ जाने पर दया-बुद्धि, द्वेष का रंग चढ़ जाने पर द्वेष-बुद्धि। इस प्रकार अनेक बुद्धियाँ मनुष्य को चारों ओर खींचने का, त्रस्त करने का, व्याकुल कर देने का, जर्जर करने का काम अलबत्ता करती रहती हैं। ऐसी हजार बुद्धियाँ मार्गदर्शन करने में बेकार होती हैं। शुद्ध बुद्धि, अर्थात् प्रज्ञा, ही ठीक निर्णय देती है, क्योंकि उसका अपना कोई रंग नहीं होता। वह थर्मामीटर की तरह होती है। थर्मामीटर को खुद बुखार नहीं चढ़ा होता, इसीसे वह दूसरों के ताप का मापक हो सकता है।

बुद्धि किसीके पास कम हो या किसीके पास ज्यादा, इसका महत्व

नहीं। महत्व है स्वच्छ बुद्धि का। आग की एक छोटी-सी भी चिन-
 गारी हो तो वह कार्यकारी हो सकती
 शरीर-शक्ति से बुद्धि- है। वह कपास के सारे ढेर को जला
 शक्ति की विशेषता सकती है। इसके विपरीत कोरा कोयला
 बड़ा-सा होने पर भी वह उसमें दब जाता है। प्रज्ञ बुद्धि के कम या
 ज्यादा होने का नहीं है, खालिस बुद्धि की एक छोटी-सी चिनगारी,
 एक छोटी-सी ज्योति हो तो भी काफी है। बुद्धि की शक्ति की यही
 खूबी है; परन्तु शारीरिक शक्ति की बात ऐसी नहीं है। कोई सीकिया
 पहलवान इस जन्म में गामा हो सकेगा या नहीं, इस बात में संदेह हो
 सकता है, किसी अल्प-बुद्धि मनुष्य के लिए राष्ट्रकार्य-संचालन के
 योग्य नेतृत्व साधना सम्भव नहीं, परन्तु बिल्कुल अल्प-बुद्धि व
 अशिक्षित मनुष्य भी इस जन्म में स्थितप्रज्ञ अवश्य हो सकता है। उसके
 लिए गठरी-भर बुद्धि की जरूरत नहीं है। प्रज्ञा की एक चिनगारी
 ही काफी होती है। भारी-भरकम बुद्धि चाहे संसार में कितने ही
 काम-काज व उथल-पुथल करती रहे, परन्तु त्रिभुवन को खाक करने का
 सामर्थ्य तो सिर्फ प्रज्ञा की चिनगारी में ही है।

दूसरा व्याख्यान

१

अर्जुन का प्रश्न हमने देखा। प्रज्ञा किसे कहते हैं, समाधि क्या है, इसका भी हमने विचार किया। प्रज्ञा का अर्थ सामान्य बुद्धि नहीं, बल्कि वह बुद्धि है, जिसका झुकाव केवल निर्णय की ओर होता है। यह प्रज्ञा 'स्थित' अर्थात् सीधी खड़ी रहनी चाहिए।

समाधि का कुछ और
विवेचन

'सीधी खड़ी' का मतलब है निश्चित, सरल। हमने यह भी देख लिया कि समाधि का मतलब ध्यान-समाधि से नहीं है। यहां 'समाधि' शब्द का थोड़ा और भी विवेचन करना उपयोगी होगा। 'समाधि' शब्द में 'स' और 'आ' उपसर्ग हैं व 'धा' धातु है। 'समाधान' शब्द की व्युत्पत्ति भी यही है। चित्त के समाधान की स्थिति ही समाधि है। समाधान कहते हैं, 'समतुलन' को। जब तराजू के दोनों पलड़े बिलकुल समान हों, तो कहते हैं तराजू समतोल है, तराजू का समाधान है। तराजू की डंडी की तरह चित्त की स्थिति समतोल, अचल व शांत हो जाय तो उसका समाधान होगया। यह समाधि सदा टिकती है, कभी भी भंग नहीं हो पाती। आगे छठे अध्याय में इस स्थिति की उपमा बिलकुल निर्वात स्थान में जलते हुए दीपक से दी गई है। इसीको दीप-निर्वाण कहते हैं। 'दीप-निर्वाण' का अर्थ करना चाहिए—दीपक की एक-सी अड़ोल लौ उठते रहना; 'दीपक का बुझ जाना' ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है। बुझ जाने के बाद की शांति, शरीर के रहते हुए, प्राप्त नहीं हो सकती। समाधि का मतलब है चित्त की ऐसी शांत स्थिति, जो इसी देह में—जीवन में—अनुभव की जा सके और जो कभी चलित न हो। इस तरह अर्जुन के प्रश्न का उत्तर इस

प्रश्न के 'समाधि' शब्द से ही सूचित किया जा रहा है और वही अब भगवान् एक श्लोक में व्याख्या करके बता रहे हैं :

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

यहां समाधि की शास्त्रीय व्याख्या की जा रही है। 'उच्यते' शब्द यहां व्याख्या का द्योतक है, ऐसा समझना चाहिए। इस श्लोक की व्याख्या यथार्थ और संपूर्ण है, अर्थात् उसका दुहरा स्वरूप है—निषेधक व विधायक। इस तरह दुहरी व्याख्या करने पर ही वह पूर्ण होती है। जैसे अहिंसा शब्द लीजिये। 'हिंसा न करनी चाहिए' यह उसका निषेधक अर्थ हुआ; 'प्रेम करना चाहिए' यह विधायक हुआ। दोनों को मिलाकर अहिंसा की पूर्ण व्याख्या होगी। 'प्रजहाति यदा कामान्', यह निषेधक लक्षण और 'आत्मन्येवात्मनातुष्टः' यह विधायक स्वरूप हुआ। ये उभयविध लक्षण सुनिश्चित और सूक्ष्म भाषा में किये गए हैं।

'मन की सब कामनाओं को छोड़ देना' यह निषेधात्मक लक्षण यहां बताया गया है। 'मन' कामनाओं से बना हुआ है तो इसका अर्थ यह हुआ कि 'ऐसा मन ही न रहे'। निषेधक व्याख्या : निःशेष किसी एक ज्योतिषी की नजर मेरे हाथ कामना-त्याग पर पड़ गई। उसने कहा, "तुम्हारे हाथ में तो हृदय की रेखा ही नहीं दिखाई देती।" मैंने कहा, "ऐसा हो तो फिर मुझे भगवान ही मिल गया।" मेरी दृष्टि से मनुष्य को केवल बुद्धि ही होनी चाहिए, मन का न होना ही अच्छा है। मन को बुद्धि में घुल-मिल जाना ही चाहिए। मन का अर्थ है संकल्प-विकल्प। मन है कामनाओं की गठरी। संकल्प-विकल्प या कामनाएं सब ऐसे होने चाहिए जो बुद्धि की प्रेरणा से चलें। मन और बुद्धि में अनबन न होनी चाहिए—खींचातानी न होनी चाहिए। बस, बुद्धि कहे व मन करे। निर्णय करना काम है बुद्धि का। बुद्धि कानून बनानेवाला

महकमा है। मन उस पर अमल करनेवाला महकमा। उसे बुद्धि के क्षेत्र में बिलकुल दखल न देना चाहिए। जिसका काम हो वही करे। जीभ इतना ही देखे कि लड्डू मीठा लगता है या कड़वा। वह खाने के योग्य है या अयोग्य? लड्डू कितने खावें, यह तय करना उसका काम नहीं। वह इसमें फिज़ूल ही टांग अड़ाने का साहस न करे। इसी तरह मन को बुद्धि के अनुसार चलना चाहिए। वह धीरे-धीरे बुद्धि में लीन हो जाय। मन-रूपी कामनाओं की गठरी में से यदि एक-एक चिथड़ा निकाल डालें तो फिर खतम हुई वह गठरी। यों कहिये कि मन घुल गया, मिल गया, विलीन हो गया; बुद्धि से एक-रूप, एक-रस, एक-जीव हो गया। यही वास्तविक मनोनाश है। मनोनाश का अर्थ 'मन की शक्ति का नाश' नहीं है। मनोनाश का अर्थ है कि मन बुद्धि का अनुसरण करे। बुद्धि के निर्णय के अनुसार, बिना चीं-चपड़ किये, चले। अमल करने की मन की शक्ति को नष्ट करने की जरूरत नहीं है। उस शक्ति को तो कायम रहना है। किन्तु हां, मन की कामनाओं को समूल नष्ट कर देना है। इस तरह मन की सब कामनाओं का सम्पूर्णतः त्याग करना स्थित-प्रज्ञ की व्याख्या का निपेधात्मक अंग हुआ।

अब व्याख्या के विधायक अंग का विचार करें। 'आत्मन्येवात्मनातुष्टः' यह विधायक लक्षण है। स्थितप्रज्ञ अपने आत्मा में ही

संतुष्ट रहता है। बाहर के दिखावे की अपेक्षा वह भीतरी दृश्य से ही तृप्त होता है। वस्तुतः बाहरी दृश्यों से यह भीतरी

दर्शन ही अधिक सुन्दर व भव्य होता है। कवि जिस दृश्य का वर्णन अपने काव्य में करता है उस प्रत्यक्ष दृश्य की अपेक्षा भी उसका वह वर्णन अधिक मधुर होता है। उसका कारण यही है कि उसका वह आदर्शमय अंतरंग बाह्य सृष्टि की अपेक्षा अधिक रमणीय होता है। वही रमणीय आत्मदर्शन इस विधायक लक्षण में सूचित किया गया है। इन दोनों लक्षणों को मिलाकर स्थितप्रज्ञ का संपूर्ण दर्शन होता है। वह कामनाओं का त्याग करता है और संतोष का क्षरणा तो

उसके अन्दर ही रहता है। कामनाओं में आनंद नहीं होता है। यह बात उसके चिन्त में पैठ गई होती है। और यह विचार करने योग्य प्रश्न है कि सचमुच कामनाओं में आनंद या समाधान है भी ? अनुभव नहीं बताता कि कामनाओं से शांति, शीतलता, समाधान प्राप्त होता है। उलटा उनसे मन एक-सा छटपटाता रहता है। छटपटाहट मनुष्य को बेचैन कर देती है, आग लगा देती है। अतः यह डर रखने की विलकुल जरूरत नहीं है कि कामना के चले जाने से शीतलता कम हो जायगी। कामना में जो समाधान मालूम होता है वह कोरा भास ही है। आनंद तो कामना की तृप्ति में, अर्थात् दूसरे शब्दों में उसके अभाव में होता है। कामना पूर्ण होने का अर्थ है कि एक तरह से उसका शमन होना, नष्ट होना। विचार करने पर यह बात ध्यान में आ जायगी कि आनंद का स्थान कामना नहीं, बल्कि उससे मुक्ति है। इसीलिए यहां कामना का संपूर्ण त्याग और आत्मा में ही, अर्थात् अपने स्वरूप में ही संतोष, ऐसा दुहरा लक्षण बताया गया है।

यहां जो दुहरा लक्षण बताया गया वह केवल विधायक व निषेधक ही नहीं, बल्कि उभयों से एक दूसरे प्रकार का भी दुहरा अर्थ निकलता है। इनमें पहला प्रारम्भिक व आत्मदर्शन व कामना-त्याग दूसरा प्रगत स्वरूप का है, ऐसा भी परस्पर कार्य-कारण हैं कह सकते हैं। पहले तो तमाम कामनाओं को छोड़ देना, यह साधन-रूप हुआ। दूसरा लक्षण कामना-त्याग से प्राप्त स्थिति का द्योतक है। अतः पहला है साधन-रूप प्राथमिक, दूसरा है उसका फलित-रूप प्रगत। 'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्'—बाह्य विषयों से चित्त जब अलग हो जाता है तब पता चलता है कि अंदर कैसा आनंद भरा है। इस वाक्य में गीता ने यह क्रम बताया है। इसके विपरीत स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में ही आगे चलकर ऐसा भी कहा है कि जैसे-जैसे आत्मदर्शन होता जाता है वैसे-वैसे कामना का रस सूखता जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि आत्मदर्शन साधन है और कामना-नाश उसका फल। इस दृष्टि से 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' यह मूल-

भूत लक्षण माना जा सकेगा। आत्म-तृप्ति दिखाई नहीं देती, कामनाओं का त्याग दीख जाता है। किसी मनुष्य में कामना का न दिखाई देना उसका प्रकट लक्षण है। आत्म-संतोष का वह चिह्न व परिणाम है। अतः उसे फलस्वरूपी कह सकते हैं। परन्तु पहले आत्मदर्शन या पहले कामना-त्याग, ऐसा विवाद करना ही व्यर्थ है। 'पहले बीज या पहले पेड़' जैसा ही यह विवाद है। आत्मदर्शन व कामना-त्याग एक-दूसरे के कार्य-कारण हैं।

२

यहां सब कामनाओं का निःशेष त्याग बताया गया है। अर्थात् कामना को कांटे की तरह माना गया है। कांटा चाहे सोने का भी हो, वह चुभेगा ही। छुरी सोने की होने पर भी प्राण-हरण करेगी ही। अतः गीता का यह सिद्धान्त है कि शुरु से आखिर तक सब तरह की कामनाओं को एकदम निकाल डालना चाहिए। परन्तु गीता के ही आधार पर यह कहा जाता है कि कुछ कामनाएं रहने देने में गीता को आपत्ति नहीं है। 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'; यह वचन सबूत में पेश किया जा सकता है। तो इस प्रश्न का विचार कर लेना चाहिए। सच पूछिये तो इन दोनों वचनों में कोई वास्तविक विरोध ही नहीं है। एक वाक्य में उस मुकाम का निर्देश किया गया है जहां हमें पहुंचना है। दूसरे वाक्य में यह सुझाया गया है कि कामनाओं का त्याग कैसे करना चाहिए। कामना-नाश की प्रक्रिया के साधारणतः चार प्रकार हैं—(१) व्यापक प्रक्रिया,

(२) एकाग्र प्रक्रिया, (३) सूक्ष्म प्रक्रिया और (४) विशुद्ध प्रक्रिया। (१) व्यापक प्रक्रिया। इसमें कामना व्यक्तिगत होती है। उसे सामाजिक रूप देना कर्मयोग की कामना-नाश-सम्बन्धी एक तरकीब है। फर्ज कीजिये कि कोई देहाती सज्जन अपने लड़के को पढ़ाना चाहते हैं। वह अपने गांव में एक पाठशाला ही कायम कर लें। अपने लड़के की पढ़ाई के इंतजाम के साथ-ही-साथ

कर्मयोग की व्यापक

प्रक्रिया

औरों के लड़कों की पढ़ाई की सुविधा कर दें। इस तरह अपनी कामना को सामाजिक रूप दें। पुरानी भाषा में एक दूसरा उदाहरण दूं। किसी को मांस खाने की इच्छा हुई तो उन्हें कहा कि मांस खाना हो तो यज्ञ करो। यज्ञ करने से दूसरों को खिलाकर फिर यज्ञ-शिष्ट तुम खा लोगे। घर में स्त्रियां ऐसा ही करती हैं। मिठाई खाने की तबीयत सभी की होती है, तो घर में मिठाई बना ली जाती है। स्त्रियां पहले सबको पेट-भर खिला देती हैं, फिर बची-खुची आप खा लेती हैं। सच पूछिये तो उनके हिस्से में मेहनत ही आती है। इस तरह स्त्रियां अपनी कामना को कुटुम्ब-व्यापी बना लेती हैं। यह कर्मयोगवाली कामना-नाश की युक्ति है। इस प्रक्रिया की मंशा यह है कि व्यक्तिगत वासना को सामाजिक रूप दें जिससे वह व्यापक होते-होते लोप हो जाय।

(२) एकाग्र प्रक्रिया। अपने मन की अनेक वासनाओं में तुलना करके देखिये कि अन्त में सबसे प्रबल वासना कौन-सी है। अब शेष

ध्यान-योग की एकाग्र

प्रक्रिया

वासनाओं को छोड़ दीजिये और उसी एक वासना का ध्यान कीजिये, उसीमें अपने चित्त को एकाग्र कर दीजिये। मान लीजिये कि किसी विद्यार्थी के मन में अनेक वासनाओं के साथ वेदाभ्यास की भी इच्छा है, परन्तु वह अन्य वासनाओं से ज्यादा बलवती है। वह गुरु-गृह जाकर रहेगा, जैसा मिलेगा वैसा खाना खा-पीकर अध्ययन करेगा, जिससे उसकी मीठा खाने की वासना अपने-आप मर जायगी। इस तरह अपनी मुख्य वासना को प्रमाण मानकर उसके अनुसार अपना सारा जीवन बनावें, यह ध्यानयोग की तरकीब है। जिन विद्यार्थियों की तीव्र इच्छा विद्याध्ययन की है, उनमें हम यह बात पाते हैं कि इतर वासनाओं का निग्रह करके वे विद्यार्जन के लिए अनेक कष्ट उठाते हैं। 'सुखार्थिनः कुतो विद्या, कुतो विद्यार्थिनः सुखम्' यह व्यासदेव का ही वचन है। इसके विपरीत हम तो उलटा विज्ञापन देते हैं कि हमारे छात्रालय में सुख-सुविधा व विद्या दोनों की व्यवस्था है। यह भाषा ही गलत है। सुख की ओर ध्यान दिया तो विद्या में मन

लगेगा ही नहीं। अतः अपनी वासनाओं की छानबीन करके जो सबमें प्रबल लगे उसीपर सारी शक्ति एकाग्र कीजिये। आज के भौतिक प्रयोगकर्ता वैज्ञानिक ऐसा ही करते हैं। वे अपना सारा ध्यान व शक्ति अपने प्रयोग में लगाते हैं। यह हुआ ध्यान-योग। इतर वासनाओं का निरास करके एक ही वासना पर केंद्रित हों, फिर उसे भी छोड़ दें। एकाग्रता सध जाने पर उस वासना का भी त्याग करके छुट्टी पावें।

(३) सूक्ष्म प्रक्रिया। इस प्रक्रिया में स्थूल वासना को छोड़कर सूक्ष्म को ग्रहण करने की तरकीब बताई गई है। यदि सज-धज का शौक है

ज्ञानयोग की सूक्ष्म

प्रक्रिया

तो शरीर को सजाने की बनिस्बत अन्तरंग को सजाओ, अपनी बुद्धि को सजाओ, चतुर बनो। नवीन विद्या प्राप्त करो,

कला सीखो। शरीर के स्थूल शृङ्गार की अपेक्षा यह बौद्धिक शृङ्गार सूक्ष्म है। इससे भी अधिक सूक्ष्म शृङ्गार की विधि है हृदय को शुभ गुणों से मंडित करना। शरीर को सुगन्धित करनेवाले इत्र की अपेक्षा बुद्धि-चातुर्य अधिक सुगन्धित इत्र है और उससे भी अधिक सुगन्धित इत्र है हृदय की शुभ-गुण-सम्पत्ति। नामदेव ने एक अभंग में 'विठाई-मां ने मुझे कैसा सजाया है' इसका बड़ा बढ़िया वर्णन किया है। जिस प्रकार मां अपने बच्चे के बाहरी अंगों को सजाती है, ठीक वैसा ही अन्तरंग शृङ्गार का वर्णन उसमें है। बाह्य शृङ्गार की अपेक्षा अन्तःशृङ्गार से जीवन की शोभा विशेष बढ़ेगी। शोभा के स्थूल रूप को छोड़िये व सूक्ष्म रूप को पकड़िये। आनन्द कामना में नहीं, कामना-तृप्ति में है। कामना यदि स्थूल हो तो उसकी तृप्ति कठिन होती है, क्योंकि तब बाहरी साधन जुटाने पड़ते हैं। वही यदि सूक्ष्म हो तो फिर तृप्ति में बाधा कम होती है, क्योंकि अपने भीतर के साधनों से ही वह तृप्त हो जाती है। इस तरह कामना अन्तर्मुख व सूक्ष्म होते-होते अन्त में बिलकुल नष्ट हो सकती है, या होनी ही चाहिए। यह ज्ञान-योग की तरकीब है।

(४) विशुद्ध प्रक्रिया। इस प्रक्रिया के अनुसार हम वासना

में व्यक्तिगत व सामाजिक, गौण व मुख्य, अथवा स्थूल व सूक्ष्म ऐसा भेद नहीं करते। शुभ वासना और अशुभ वासना—ऐसा भेद करते हैं। अच्छी वासनाओं को रखिये, बुरी को छोड़ दीजिये। यदि मीठा खाने की इच्छा हुई तो मिठाई न खाकर आम खा लीजिये। मिठाई से नुकसान हो सकता है और उससे रजोगुण भी बढ़ेगा। आम तन्दुरुस्ती के लिए अच्छा होता है और उससे सत्वगुण की भी वृद्धि होगी। इस प्रक्रिया में हम आरंभ में ही वासना को मारने के लिए नहीं कहते। इतना ही कहते हैं कि अशुभ को छोड़ो व शुभ को पकड़ो। अब शुभ क्या व अशुभ क्या, इसका निर्णय व्यक्ति खुद अपनी बुद्धि से कर ले। जिसका जो मत, वही उसके लिए प्रमाण। कुछ वासनाओं की शुभाशुभता का निर्णय साइंस अर्थात् विज्ञान की सहायता से किया जा सकेगा। कुछ वासनाओं के सम्बन्ध में यद्यपि विज्ञान की सहायता से ऐसा विवेक बन सका तो भी अन्त में, शुभ क्या व अशुभ क्या, इसका निर्णय, जिसकी वासना है, उसीको अपने विचार से ही करना पड़ेगा। अशुभ वासनाओं का त्याग व शुभ वासनाओं की पूर्ति करते-करते मन शुद्ध होकर वासना ही उड़ जायगी। यह कामना-नाश की विशुद्ध प्रक्रिया है।

इन चारों प्रक्रियाओं में अंत की यह विशुद्ध प्रक्रिया सबमें अच्छी, बिना खतरे की, अतः सबसे अच्छी है और प्रायः भक्तियोग ने उसीको स्वीकार किया है। इतर प्रक्रियाओं में शक्ति है, वैसे ही खतरा भी बहुत है। विशुद्ध प्रक्रिया सब तरह से सुरक्षित व्यापक प्रक्रिया में कहा गया है कि कामना सामाजिक बनाई जाय; परन्तु यदि वह कामना ही अशुभ हो तो? किसीको शराब ही पीने की इच्छा हुई तो इस प्रक्रिया के अनुसार उसे शराब पीने का सार्वजनिक बलव खोलना चाहिए। परन्तु इससे उसका व समाज का भी अधःपतन ही होगा। केवल सामाजिक बना देने से वासना शुद्ध होती हो, सो बात नहीं। एकाग्र प्रक्रिया में भी वही खतरा है। जिस वासना

पर चित्त की एकाग्रता करनी है; यदि वही अशुभ हो तो सभी खत्म हुआ। चित्त की एकाग्रता योग-शास्त्र का विषय है। उसमें पतंजलि ने ऐसा संकेत कर रखा है कि ध्यान-योग का आचरण यम-नियम-पूर्वक ही करना चाहिए, नहीं तो उससे अनर्थ हो जायगा और ध्यान-योग तारक होने के बजाय मारक हो रहेगा। सामाजिकता व एकाग्रता में शक्ति अवश्य है, परन्तु वह यदि ऊटपटांग हुई तो उससे मनुष्य राक्षस भी बन जायगा। सूक्ष्म प्रक्रिया भी सुरक्षित नहीं है। वासना सूक्ष्म होने पर पवित्र ही होगी, यह नहीं कह सकते। किसीको काम-वासना ने घेर लिया और वह यदि अमूर्त काम का ही चिन्तन करने लगा तो परिणाम कदाचित् अधिक ही भयानक हो जायगा। अतः भक्तियोग द्वारा अंगीकृत यह 'विशुद्ध प्रक्रिया' सबमें सुरक्षित है। इसीलिए तुलसीदास ने कहा है "भगति सुतंत्र अवलम्ब न आना।" इतर साधनों में वर्तमान खतरे को मिटाने के लिए उन्हें भक्तियोग के आधार की जरूरत होती है, परन्तु भक्ति को कोई अवलम्बन दरकार नहीं। इतर साधन शक्तिशाली हैं, पर साथ ही खतरे से भरे हुए भी हैं। एक ओर शक्ति है तो दूसरी ओर सुरक्षितता है। भक्ति व शक्ति में इस तरह भेद है। भक्ति के साथ यदि शक्ति का जोड़ न हो तो वह दुर्बल भले ही हो जाय, परन्तु अपवित्र व मारक न होगी। इसके विपरीत यदि शक्ति के साथ भक्ति न हुई तो वह सर्वनाश ही कर डालेगी। भक्ति किसी भी दशा में अकल्याण न करेगी। अतः कामना-नाश की भक्तियोग द्वारा मान्य विशुद्ध प्रक्रिया सब तरह से सुरक्षित व अनुकूल है। 'धर्मोऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि' वाक्य के द्वारा उसीको दर्शाया गया है।

तीसरा व्याख्यान

१

स्थितप्रज्ञ की एक परिपूर्ण व्याख्या हो गई। अब अगले तीन श्लोकों में इस व्याख्या का उत्तरोत्तर स्थितप्रज्ञता के सुलभ सुलभ विवरण किया गया है। इनमें साधनः (अ) सुख-दुःख सह लो पहले श्लोक में स्थितप्रज्ञ की व्याख्या का मानसशास्त्रीय विवरण है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

व्याख्या-निदर्शक 'उच्यते' शब्द यद्यपि इसमें आगया है, तथापि यहां व्याख्या की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि व्याख्या तो पहले ही हो चुकी है। स्थितप्रज्ञ की शास्त्रीय व्याख्या में सब कामनाओं का समूल त्याग अपेक्षित है, परन्तु वह ऐसा सरल नहीं है। अतः अब इस श्लोक में स्थितप्रज्ञ का अपेक्षाकृत सरल लक्षण बताया गया है। दुःख या अप्रिय प्राप्त हो तो उद्वेग न होने देना चाहिए। उद्वेग होने देने का अर्थ है घबरा जाना, ऊब जाना या परेशान हो जाना। इस शब्द में ही यह अर्थ रखा हुआ है। 'उत्' का अर्थ है ऊपर, 'वेग' के मानी हैं 'गति'। ऊपर चढ़ते हुए जैसे बैलों को आफत होती है, नाकों-दम हो जाता है, वैसी हालत न होनी चाहिए। दुःख को धैर्य से सहना चाहिए, उसके सामने घुटने न टेकने चाहिए। दुःख की तरह सुख को भी सावधानी से सहना चाहिए। मनुष्य नहीं चाहता कि दुःख हो। अतः उससे वह भुलावे में नहीं आ सकता; उसे तो धीरज से सह लिया कि बस। परन्तु सुख तो मनुष्य चाहता है, इससे मन उसके भुलावे में आ सकता है। अतः सुख में खतरा है। सुख की

लालसा लगना सुख-संबंधी गलतफहमी का परिणाम है। अतः जब सुख आवे तो सावधान होकर मन को रोक लेना चाहिए। दुःख आने पर धैर्य रखना चाहिए, सुख आने पर उसमें मन को लिप्त न होने देना चाहिए। उसे रोक रखना चाहिए। उतार पर बैल दौड़ने लगता है। इसी तरह सुख के समय मन की वृत्ति दौड़ने लगती है। अतः उसे रोक रखने की जरूरत है। यह काम उतना कठिन नहीं है। कामना-त्याग के हिसाब से बहुत ही सरल है। यहां कामना के दो रूप बताये गए हैं—सुख का वांछनीय मालूम होना, व दुःख का अवांछनीय लगना। इन दोनों का संयम यहां बताया गया है।

कामना के जैसे दो प्रकार हैं वैसे तीन परिणाम होते हैं—(१) तृष्णा (२) क्रोध (३) भय। अनुकूल वेदना से तृष्णा उदय होती है। प्रतिकूल वेदना से क्रोध। भय

(आ) वृत्ति न उठने दो भी क्रोध का ही, प्रतिकूल वेदना का ही, एक रूप है। परन्तु हमारे मन में जीवित रहने की एक विशेष आसक्ति रहती है, जिससे भय-वृत्ति क्रोध से भिन्न गिनी जाती है। हमारी जिजीविषा पर आघात होने से भीति उत्पन्न होती है। यह वृत्ति सभी प्राणियों में स्वरसवाही अर्थात् रक्त में सनी हुई है। जीवनोच्छेद का प्रसंग आते ही वह जाग्रत हो उठती है। जालिम लोगों ने इस भय-वृत्ति से बहुत फायदा उठाया है। उन्होंने मनुष्यों को भय दिखाकर ही गुलाम बनाया है। तोप, बन्दूक आदि शस्त्रास्त्रों की अपेक्षा उसकी सत्ता का वास्तविक आधार यह भय-वृत्ति ही है। अतः तृष्णा व क्रोध इन वृत्तियों को मिटाने के लिए जैसी स्वतंत्र साधना करनी पड़ती है वैसे ही भय-वृत्ति को जीतने के लिए स्वतंत्र साधना करना जरूरी है। तृष्णा, क्रोध व भय—इन तीनों वृत्तियों के नाश हो जाने पर प्रज्ञा स्थिर होती है। ये वृत्तियां बुद्धि पर आघात करती हैं, अतः उनके निरास का उपदेश यहां किया गया है। इस तरह इस श्लोक में स्थितप्रज्ञ की स्थिति का मानस-शास्त्रीय विवेचन किया गया है। इसके आगे के श्लोक में यह बताया गया है कि प्रत्यक्ष कर्मयोग का आचरण करते हुए संयम कैसे साधना चाहिए।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

‘यः सर्वत्र अनभिस्नेहः’—मन को कहीं भी लिप्त न होने देना चाहिए । मन को कहीं भी न तो लगाओ, न लिप्त होने दो, स्थितप्रज्ञता का सुलभतर न टिकने दो या घर बनाने दो । मनुष्य साधन : वृत्तियों के साथ का मन कहीं-न-कहीं तो जा लगता है । बह न जाओ । किसीका पुस्तक में तो किसीका खेत में रमा रहता है । यहां यह कहा गया है कि उसे कहीं भी लिप्त मत होने दो । इससे पहलेवाले श्लोक में कहा है कि बुरे या अशुभ का दुःख मत होने दो, अच्छे या शुभ से सुख मत होने दो । यहां उससे भी अधिक सुगम साधन बताया है । यह नहीं कहा कि अच्छा मिले तो सुख मत मानो; भले ही सुख मान लो, इसमें हर्ज नहीं है, पर उसमें अपनेको भूल मत जाओ । हर्षित न हो उठो । फूल मत जाओ । तालियां मत पीटने लगे । उसका अभिनन्दन मत करो । लड़का पैदा हो तो अच्छा मालूम होगा; होने दो, परन्तु शकर मत बांटो । शादी हुई तो अच्छा लगेगा; कोई हर्ज नहीं, पर बैड-बाजा मत बजाओ । इतना ही यहां कहा है । इसी तरह बुरा प्राप्त हुआ तो बुरा लगा । हर्ज नहीं, लगने दो; पर मन में संताप मत करो । वह इतना तीव्र न हो जाय कि बुद्धि को विकारों की आंच लगने लगे । तीव्र विकार बुद्धि पर आघात करते हैं । बुद्धि सही-सलामत रहनी चाहिए । चाणक्य का एक वचन है—मेरा सब कुछ चला जाय, पर बुद्धि कायम रहे—‘बुद्धिस्तु मा गान् मम ।’ बुद्धि सलामत रखो । कर्मयोगी प्रत्यक्ष व्यवहार में कैसा बरते, इसका यह विवरण हुआ । मनुष्य की वृत्ति में यदि थोड़ी भी गम्भीरता हो तो उसके लिए यह सहज सधने जैसा है । यदि बन्दर की तरह वृत्ति हुई तो संयम नहीं सधने का । बन्दर आनन्द से किलकिलाने लगते हैं, दुःख से किचकिचाते हैं । ऐसी वृत्ति न हो । थोड़ी गम्भीरता हो तो यह कठिन न मालूम होगा ।

संयम को और भी सुलभ तथा स्पष्ट करने के लिए अगले श्लोक में कछुए का उदाहरण देकर इंद्रिय-स्थितप्रज्ञता का सुलभतम साधन : इंद्रियों का नियमन निग्रह बताया है ।

करो

यदा संहरते चायं कूर्मोऽगानीव सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

कछुआ अपने अवयवों को बटोर लेता है, उसी तरह अपनी इंद्रियों को विषयों से समेट लो । यों कछुआ अपने तमाम अवयवों को फँलाकर चलता है, परन्तु खतरा मालूम होते ही उन्हें सिकोड़ लेता है । उसी तरह जहाँ खतरा हो वहाँ से तुम अपनी इंद्रियों को भीतर खींच लो । जहाँ उनका पारमार्थिक उपयोग होता हो वहाँ उन्हें खुला रहने दो । यह साधन और भी सुगम है । जहाँ खतरा दीखे, वहाँ पीछे हट जाओ । जहाँ खतरा न हो वहाँ आजाद छोड़ दिया । इससे ज्यादा सुगमता और क्या हो सकती है ! यह तो पशु भी समझ सकता है । इसीसे कछुए का उदाहरण दिया है । जब कछुआ-जैसा जानवर भी इस तरह बरतता है तब आप-हम तो मनुष्य हैं, यह गीता की ध्वनि है ।

२

परन्तु जो बात यहाँ सुगम बताई गई है वह भी हमें कठिन मालूम होती है । असल में इसका ताल्लुक आदत से है । छोटे बच्चे को यदि इन्द्रिय-नियमन वस्तुतः शुरुआत से ही ऐसा अभ्यास कराया जाय, तो गीता उसका स्वभाव ही बन कठिन नहीं है जायगी । बात सिर्फ अभ्यास—आदत की है । कहते हैं, गीता तो मनुष्य-स्वभाव से विरुद्ध चलने के लिए कहती है । बिल्कुल नहीं । छोटे बच्चे की नैसर्गिक रुचि शुद्ध ही रहती है । हम जबरदस्ती उसकी जीभ में अंट-शंट पदार्थों की रुचि उत्पन्न करते हैं । उसकी रुचि को विकृत व कृत्रिम बनाते हैं । गीता कहती है कि छोटे बच्चे को स्वभावतः जो अच्छा लगता है, वह सुलभ है, वही तुम करो । हम छोटे बच्चों को कुशिक्षा देकर पहले उनकी रुचि बिगाड़

देते हैं। और फिर उसे इससे उलटी शिक्षा देकर सुधारना पड़ता है। शुरु में कुशिक्षा देकर इंद्रियों को नखरीला बनाया जाता है, इसलिए फिर उन्हें काबू में रखना कठिन मालूम होता है। यदि शुरु से ही अच्छी आदत डाली जाय तो इंद्रिय-संयम बड़ा सुलभ हो जाय। ज्ञानदेव कहते हैं, “मेरी इंद्रियों का स्वभाव ही ऐसा हो गया है कि जो न देखना चाहिए उसकी तरफ आंख ही नहीं जाती; जो सुनने योग्य नहीं है उसे कान सुनते ही नहीं।” यह बात कठिन क्यों लगनी चाहिए ! यदि यह मालूम हो जाय कि यहां आग है तो क्या हाथ उधर जायगा ? बल्कि यदि आग में हाथ डालने का ही अवसर आ जाय तो बहुत सोच-विचार के, मन को कड़ा करके ही डालना होगा। इसी तरह हमारे मन को जहां निश्चय हो जाय कि यहां खतरा है तो उधर इंद्रियां जायंगी ही नहीं। वास्तव में तो खतरे की जगह इंद्रियों को ढीला छोड़ना ही कठिन मालूम होना चाहिए। परन्तु कुशिक्षा ने हमारी स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत कर डाली है। जो कठिन या अस्वाभाविक है वही हमें सहज और सरल मालूम होता है। उसका गीता क्या करे ! गीता ने तो ऐसा एक साधन बता दिया है जो उसकी दृष्टि से एक वच्चे के लिए भी सहल है। इसमें कोई संदेह नहीं कि समाज की अवस्था यदि स्वाभाविक हो तो उसमें इंद्रिय-जय कठिन न मालूम होगा।

पर इंद्रिय-जय की दो विधियां बताई जाती हैं—इंद्रिय-संयम व इंद्रिय-निग्रह। इन दो प्रकारों का थोड़ा विचार कर लें। इंद्रिय-निग्रह

इन्द्रिय-नियमन के दो

प्रकार : संयम व निग्रह

कुछ समय के लिए होता है। इंद्रिय-निग्रह सारे जीवन का तत्त्व है। जैसे, मान लीजिये, मुझे मीठा खाने का शौक है। मीठा खाना तो बुरा है नहीं। हां, मीठे का मोह अलबत्ते बुरा है। अतः मैं कुछ समय के लिए मीठा खाना बिल्कुल बन्द कर देता हूं। इसमें मंशा यह है कि अपने को अभ्यस्त करूं, आदत लगाऊं, अपनी रुचि का दमन करूं। इंद्रियों को दान्त करने के लिए, काबू में लाने के लिए, कुछ समय तक हम उनका निग्रह करते हैं। मीठा खाना ही तो गुनाह नहीं है। आरोग्य के लिए कुछ मीठा खाना आवश्यक भी हो

सकता है, परन्तु मीठे के शौक को अपने बस में करने के लिए कुछ समय तक मैंने उसका निग्रह किया। उसके बाद मैं फिर मीठा खाने लगता हूँ, परन्तु संभलकर व तौलकर। इसे संयम कहेंगे। इसी तरह मौन का उदाहरण लीजिये। मौन कुछ काल तक करने का साधन है; मित-भाषण नित्य के लिए साधन है। इसी तरह उपवास नैमित्तिक साधन है; नियमित व निश्चित खान-पान करना नित्य साधन है। मनुष्य की आजमाइश भी इसीमें है। गुजराती में एक मार्मिक कहावत है, 'माणसनी परीक्षा खाटले ने पाटले'। पाट पर व खाट पर, अर्थात् भोजन के समय व बीमारी के समय ही, मनुष्य की परीक्षा होती है। भोजन व बीमारी ये ऐसे अवसर हैं, जब मनुष्य के स्वभाव के सभी दोष प्रकट हो जाते हैं। मनुष्य एक बार बेशुमार खा सकता है, या कभी बिलकुल ही भूखा रह सकता है, परन्तु तौलकर उचित मात्रा में खाना नहीं सधता। दोनों सिरे सध जाते हैं; परन्तु मध्यम अवस्था नहीं सधती। इंद्रियों को मध्य में रखना संयम है। जब कभी उसके लिए उन्हें दूसरे सिरे पर ले जाना पड़ता है तब वह निग्रह हुआ। निग्रह का भी लाभ स्पष्ट ही है, परन्तु वह नित्य धर्म नहीं है।

हमने जो यह भेद किया है कि निग्रह प्रासंगिक है और संयम नित्य है, यह सिर्फ तारतम्य से उनके अन्दर-ही-अन्दर किया है, ऐसा समझना

उसका और अधिक

विवरण

चाहिए; क्योंकि थोड़ा विचार करने से यह जाना जाता है कि निग्रह भी संयम की तरह नित्य हो सकता है। हमने देखा कि उपवास प्राकृतिक व मिताहार नित्य है। परन्तु मान लीजिये कि किसी व्यक्ति ने रोज फलां वक्त ही खाने का नियम किया है—और नियम बनाना इष्ट भी होता है—अब बीच में ही यदि किसीने उसे कुछ खाने को दिया, तो वह नहीं खायगा। यह निग्रह हुआ; परन्तु यह साफ है कि वह प्रासंगिक नहीं, नित्य का है। यही बात मौन की है। मौन आमतौर पर प्रासंगिक तो होता है, परन्तु वाणी का निग्रह करने के अवसर रोज आ सकते हैं। किसी मनुष्य

ने कुछ कह दिया; तो उसका उत्तर देने के बदले अपने बोलने के वेग को रोक लेना ही बहुत बारीक ज़रूरी हो जाता है। वाणी का यह ऐसा निग्रह रोज की बात ही हो गई। इसका यह अर्थ हुआ कि निग्रह व संयम का अभ्यास वस्तुतः रोज ही करना पड़ता है। उसमें हमने जो फर्क किया है वह केवल तारतम्य से। वास्तव में तो दोनों मूलतः एक ही हैं। निग्रह व संयम दोनों में एक वस्तु समान है—अपने पर अंकुश। सार यह कि संयम व निग्रह का सूक्ष्म भेद समझकर उसे भूल जाना ही अच्छा है, परन्तु 'निग्रह' शब्द के संबंध में कुछ और सफाई करना ज़रूरी है। निग्रह में बलात्कार का भाव तो नहीं आता?—ऐसा संदेह होता है, परन्तु 'इंद्रिय-निग्रह' शब्द में ऐसा बलात्कार नहीं सूचित किया गया है। शब्द को अर्थ का बोझ नहीं लगता। अतः वह अनेक अर्थों में यथा-प्रसंग व्यवहृत होता है।

यहां स्थितप्रज्ञ का मुख्य लक्षण व उसके तीन विवरण समाप्त हुए। अगले दस श्लोकों में इस विवरण में से अन्त के क्रियात्मक

इन्द्रिय-जय का गीता

की दृष्टि में महत्त्व

सुलभ साधन का, इंद्रिय-जय का, व्याख्यान है। गीता ने इसे इतना महत्त्वपूर्ण समझा है कि अनेक अध्यायों में स्थान-स्थान पर उसका विवेचन किया है। तीसरे अध्याय में कर्मयोग का विवेचन कर चुकने के बाद 'इंद्रिय-जय' पर एक स्वतंत्र प्रकरण ही लिखा है। यहां इसके आगे अब इस विषय का विज्ञान और तत्त्वज्ञान दोनों को बताना है। 'कैसे' का उत्तर विज्ञान देता है; 'क्यों' को तत्त्वज्ञान हल करता है। 'इंद्रिय-निग्रह' कैसे करें, व क्यों करें, अर्थात् प्रज्ञा की स्थिरता से उसका क्या संबंध है, ये दोनों भीमांसाएं अब हम आगे करनेवाले हैं।

चौथा व्याख्यान

१

जिन्हें स्थितप्रज्ञ के लक्षण कहना चाहिए, वे वस्तुतः पहले चार श्लोकों में ही पूरे हो गए। इसके बाद अब इंद्रिय-निग्रह का विज्ञान व तत्त्वज्ञान समझना है। पहले तीन इंद्रिय-जय के विज्ञान श्लोकों में विज्ञान बताया जायगा। अब-
की प्रस्तावना तक उत्तरोत्तर सुगम साधन बताये गए।

(१) पहले कहा—कामना ही छोड़ दो।

(२) फिर कहा—कामना का परिणाम मत होने दो; तृष्णा, क्रोध व भय इनमें उसका पर्यवसान मत होने दो। (३) फिर बताया—परिणाम हो भी तो उसे काबू में रखो, बुद्धि पर उसका आक्रमण मत होने दो। और (४) अन्त में कहा कि इंद्रियों को ही रोको। इस तरह भिन्न-भिन्न व्यूहों के द्वारा उनका विवरण किया। यह इसलिए कि साधना का श्रीगणेश कैसे करें, यह दिखा दिया जाय। इसका यह अर्थ हरगिज्ञ नहीं कि साधन की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचे बिना स्थितप्रज्ञता प्राप्त हो जायगी। अन्त में इंद्रियों को वश में रखने को तो सिर्फ इसलिए कहा गया है कि वह सबमें सुलभ साधन है; परन्तु निग्रह व संयम दोनों अर्थों में इंद्रियां वश में कर लेने पर भी, इतने से ही मनुष्य स्थितप्रज्ञ नहीं हो सकता। यही क्यों, बल्कि इतने से तो इंद्रिय-जय भी पूरा नहीं होता। जब इंद्रियों पर हम काबू पा जायेंगे तो फिर उनका सहारा लेकर भीतर की सारी कामना ही काटकर फेंक देना है। 'मैं जैसा संकल्प करूँगा, वैसा ही इंद्रियां आचरण करेंगी'—इस अनुभूति से प्राप्त शक्ति के सहारे कामना का बीज ही मिटा देना है। जब यह कामना-बीज नष्ट हो जायगा, तभी हम समझेंगे कि इंद्रिय-निग्रह सफल हुआ। इंद्रिय-

निग्रह का हमारा माप इतना सूक्ष्म है, और वही अब एक श्लोक में बताया जाता है। इंद्रिय-निग्रह-विज्ञान का यह आरंभ है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

“निराहार की साधना से विषय छूट जाते हैं, परन्तु उनका रस बाकी रह जाता है। वह भी फिर पर-दर्शन से निवृत्त होता है।”

यह इस श्लोक का भावार्थ है। विषय प्राथमिक निराहार-साधना, छूट गये, विषयों से इंद्रियों को हटा लिया,

रसनिवृत्ति-पूर्णता तो इतने ही से यह न समझना चाहिए कि इंद्रिय-जय पूर्ण हो गया। ‘निराहार’

शब्द के आहार का अर्थ ‘रसना का आहार’ तो है ही, परन्तु इसके अलावा ‘सब इंद्रियों के भोग’ ऐसा व्यापक अर्थ भी ग्रहण करना होगा। अर्थात् यह शब्द यहां उपलक्षणात्मक है। इंद्रियों के आहार का निग्रह—यह प्राथमिक साधन है। इससे साधना समाप्त नहीं हो जाती। वह तो सिर्फ शुरू हुई है। बाह्य इंद्रिय-निग्रह हो जाने से अब भीतरी रस छोड़ने की तैयारी करने की योग्यता व शक्यता प्राप्त हुई। वास्तविक अर्थात् आन्तरिक साधना की शुरुआत हो गई। भीतरी रस जब चला जायगा तभी साधना पूरी होगी। बाह्य इंद्रिय-निग्रह भीतरी रस छोड़ने की शक्यता उत्पन्न करता है, इसीलिए गीता ने स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में उसका समावेश किया है।

तत्त्वज्ञानी मनुष्य की दृष्टि से कहना हो तो सिर्फ इतना ही बता देना काफी है कि सभी कामनाएं छोड़ दो। आरम्भ की स्थितप्रज्ञ की व्याख्या तत्त्वज्ञानी की भाषा में की पूर्ण व्याख्या के साथ ही गई। परन्तु तत्त्वज्ञानी का ढंग और प्राथमिक साधना दिखा देने है व शिक्षक का ढंग और। शिक्षक वाली गीता की गुरु-दृष्टि विद्यार्थी की भूमिका व अधिकार का खयाल करके बताता है। वह यह तो जताकर कह देता है कि अंतिम साधना पूर्ण हुए बिना डिप्लोमा नहीं मिलेगा; परन्तु

उसके साथ ही यह भी बताता है कि आज का पाठ क्या होगा। अर्थात् एक ओर शास्त्रीयता को कायम रखकर और दूसरी ओर दयालु होकर उसे ऐसा भी साधन बताता है जिससे विद्यार्थी को आशा मालूम होती है व धीरज बंधता है। गीता की पद्धति भी इसी प्रकार वत्सलतापूर्ण है। कछुए का उदाहरण पहला पाठ है। एक पाठ के बाद दूसरा पाठ, इस तरह गुरु-माता के वात्सल्यानुसार गीता एक-एक कदम आगे ले जाती है। दयालु सन्तों ने तो यहां तक आश्वासन दे दिया है कि जिसने भक्तिपूर्वक एक बार भी ईश्वर का नाम ले लिया वह भी मोक्षाभिमुख हो गया। उसका मुंह सही दिशा की ओर हो गया। यह बात नहीं कि इससे वह मंजिल पर पहुँच गया, परंतु दिशा हाथ लग गई तो आशा मालूम होने लगती है। आशा बढ़ाते-बढ़ाते ठेठ मुकाम तक पहुँचा देना गुरु-दृष्टि की विशेषता है।

असल में कहना यह है कि जबतक भीतर का रस नष्ट न हो तब-तक प्रयत्न जारी रखना चाहिए; किंतु तबतक क्या करें? तबतक बाहर

प्राथमिक साधना

स्पष्टतः ही अपूर्ण, परन्तु

इसलिए ढोंग नहीं

में इंद्रियों को तो रोकना ही है। इसपर कुछ लोग कहते हैं, यह तो ढोंग हुआ। सो, जिन्हें आत्म-नाश करना हो, वे ऐसे ताकिकों के चक्कर में फँसें। यदि कोई साधक पर ढोंग

का इल्जाम लगाना ही चाहें तो वह भी उस समय साबित हो जायगा; क्योंकि साधना पूर्ण होने तक उसका केवल प्रयत्न ही जारी रहनेवाला है। तबतक उसकी मनोवस्था और आचार में फर्क दिखाई ही देगा। वह प्रार्थना में बैठेगा तो भी मन इधर-उधर दौड़ता रहेगा। तो कहते हैं—“वह प्रार्थना ही न करे। प्रार्थना तो ढोंग है।” साधक पर ऐसा आरोप उसी समय साबित होगा जब यह सिद्ध किया जा सके कि वह लोगों को दिखाने के लिए प्रार्थना का दिखावा करता है। पर वह ऐसा तो करता नहीं। जब ढोंग की नीयत न हो तो उसे ढोंग कैसे कहेंगे ! कोई-कोई गीता के इसी श्लोक से अर्थ निकालना चाहते हैं कि जबतक मन वशीभूत न हो सके तबतक इंद्रियों को रोकना ढोंग है, परन्तु यह ठीक नहीं है। ‘रसस्त्वस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते’ यदि ऐसी भाषा होती

तो शायद ऐसा अर्थ किया भी जा सकता था; परन्तु यहां तो 'रसोऽपि' कहा है। 'अपि' शब्द से इंद्रियों को वश में रखने का भी महत्त्व सूचित हो जाता है। परन्तु इतने से साधना पूर्ण नहीं होती; रस अर्थात् स्वाद निर्मूल होना चाहिए। यहां तक अर्थ उसमें भरा हुआ है। जब तक रस नहीं जाता तब तक जो इंद्रिय-निग्रह होगा उसे चाहें तो 'मिथ्या' कह सकते हैं, पर ढोंग तो हरगिज नहीं। इंद्रिय-निग्रह का स्थूल व सूक्ष्म इस तरह दुहरा अर्थ है। दोनों प्रकार का निग्रह करके अन्त को उसे स्थितप्रज्ञ की मूल व्याख्या तक जा पहुँचाना है।

जब तक भीतरी रस नहीं जाता तब तक सूक्ष्म अर्थ में इंद्रिय-निग्रह नहीं सध सकता। यह रस कैसे जाय? इसका उत्तर दिया है—पर-दर्शन से, आत्म-दर्शन से। परतत्त्व का अर्थ है—
 साधना की पूर्णता पर-
 दर्शन, अर्थात् आत्म-दर्शन सबसे परले पार का तत्त्व। वस्तुतः वह तत्त्व सबसे परले पार का नहीं, बल्कि विलकुल इस पार का है। वह पर-तत्त्व नहीं, स्व-तत्त्व है, परन्तु उलटी ही भाषा प्रचलित हो गई है। इसका कारण यह है कि हम शरीर से अर्थात् बाह्य तत्त्व से गिनती शुरू करते हैं। शरीर सबसे बाहरी है, उसे सबसे नजदीक का मानते हैं। उसके बाद मन, उसके बाद बुद्धि और बुद्धि के भी बाद आत्मा—ऐसी उलटी गिनती से जो सबसे नजदीक का है, वह सबसे दूर का हो रहता है। 'इन्द्रियाणि पराण्याहुः इंद्रियेभ्यः परं मनः' इत्यादि वचनों में गीता ने ऐसी भाषा को अपनाया दीखता है। परन्तु वहां 'पर' शब्द का अर्थ 'श्रेष्ठ' अथवा 'सूक्ष्म' समझना है। सबसे सूक्ष्म, सबसे श्रेष्ठ, सबसे पास, आत्मा है। उसका दर्शन हुए बिना इंद्रिय-निग्रह पूरा नहीं होता। अर्थात् जो बात पहले श्लोक में कही थी, वहीं लाकर फिर छोड़ दिया।

२

इसपर कोई कहेगा कि "वाह! उत्तरोत्तर सुगम साधन बताता है, ऐसा आश्वासन देकर हमको अच्छा फंसाया—पहले मिठाई दिखाकर फिर डण्डा दिखाया। भीतरी रस, मिठास, स्वाद

इंद्रियों का उद्दाम या
 जबरदस्त स्वभाव : मनु
 का एतद्विषयक वचन

छोड़ना कोई मामूली बात है ! यह कैसे सधेगा ?” इसकी प्रक्रिया अब बतानी है, परन्तु इससे पहले आक्षेपकों द्वारा किये आक्षेप को ही भगवान् एक श्लोक में दृढ़ करते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभ मनः ॥

इसका अर्थ है—“प्रयत्नशील और विचारवान् मनुष्य तक की इन्द्रियां उस ओर जोर मारकर उसके मन को खींच ले जाती हैं।” ऐसा ही एक वचन मनु का भी है। अनेक लोग उसका व गीता के इस श्लोक का एक ही अर्थ करते हैं। “मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्षासनो भवेत् । बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ।” यह मनु का वचन है। इसका भावार्थ है—“मनुष्य को चाहिए कि वह मां, बहन बलङ्की के विषय में भी सावधान रहे; क्योंकि इन्द्रियां बलवान् होती हैं और मौका पड़ने पर विद्वान् को भी खींच ले जाती हैं।”

परन्तु मनु के इस वचन का मेल, सच पूछिये तो, गीता के वाक्य के साथ नहीं बैठ सकता। मनु ने साधारण मनुष्य के लिए व्यवहार की सामाजिक मर्यादा बताई है और गीता में मनु की व गीता की भूमिका आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया गया समान नहीं है। “मनुष्य को अपने पर जरूरत से ज्यादा विश्वास न रखना चाहिए। बाह्यतः भी इन्द्रिय-निग्रह उससे हो ही सकेगा, यह नहीं कह सकते।”—यह आशय मनु का है। उन्होंने सर्व-साधारण के लिए अपनी दृष्टि से व तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार एक सुरक्षित सामाजिक नियम बतलाया; किन्तु गीता का वाक्य साधक के लिए है, और उसमें ऐसा अविश्वास नहीं दिखाया गया है। गीता साधकों से यह नहीं कहना चाहती कि तुमसे स्थूल अथवा बाह्य इन्द्रिय-निग्रह भी नहीं सध सकता। यहां यह गृहीत किया गया है कि इन्द्रियों को बाह्यतः रोककर हम निराहार हो सकेंगे। गीता मानती है कि हम चाहें तो विषयों से इन्द्रियों को हटा सकते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि ऐसा कहती है कि ऐसा अवश्य करना चाहिए। मनु तो इतनी भी अपेक्षा नहीं रखते। वह तो केवल साधारण मनुष्य को सावधानी

का एक संकेत करके छुट्टी पा लेते हैं। लेकिन यहां गीता का आशय भिन्न है। यहां यह आध्यात्मिक विचार पेश किया गया है कि इन्द्रियों को विषयों से हटा लेने पर भी वे हार न खाकर उलटे मन पर हमला करती हैं। बाहरी विषयों से इन्द्रियां हटा लीं तो भी वे मन में आसन जमाकर बैठ जाती हैं। इसीसे इच्छा न रहते भी मानसिक विषय-सेवन होने लगता है। ऐसा होने से सूक्ष्म अर्थ में इन्द्रिय-निग्रह नहीं होता—इतना ही गीता का कहना है।

जो अच्छी तरह विचारपूर्वक प्रयत्न करता है उसका भी यह हाल हो जाता है। 'यततो ह्यपि', 'विपश्चितः अपि' इस तरह 'अपि' शब्द दोनों जगह लेना है। 'विपश्चित्' शब्द में 'विपः' और 'चित्' ये दो शब्द हैं। 'विपः' विप् शब्द की द्वितीया का बहुवचन है। 'विप्' ज्ञानार्थक धातु है। यही 'विप्र' शब्द में है। 'विप्र' यानी ज्ञानी। 'विपश्चित्' यानी अनेक ज्ञानों को जाननेवाला, ज्ञाता। 'ऐसा ज्ञाता भी है और प्रयत्नशील भी है, किन्तु उसके लिए भी 'सूक्ष्म इन्द्रिय-जय' साधना कठिन होता है; क्योंकि इन्द्रियां उसके मन को भी लुभाना चाहती हैं।' ऐसा भाव यहां गीता का है।

ज्ञान व तितिक्षापूर्वक प्रयत्न, यही दो शक्तियां मनुष्य के पास हैं, तीसरी कोई शक्ति उसके पास है ही नहीं। अब यदि यह कहा जाय कि मनुष्य को उपलब्ध ये दोनों शक्तियां परन्तु ज्ञान व तितिक्षापूर्वक प्रयत्न, यही दो शक्तियां मनुष्य के पास हैं। लगा देने पर भी इन्द्रियां सिरजोर होकर मन में आसन जमा लेती हैं; तो फिर मुश्किल ही समझना चाहिए। यत्नवान् विपश्चित् पुरुष का अर्थ हुआ तत्त्वज्ञान व तितिक्षा इन दोनों शक्तियों से सम्पन्न पुरुष। दूसरे अध्याय में आरम्भ में ही इसी पुरुष को 'धीर' संज्ञा दी गई है। 'धीर' का अर्थ दो तरह से किया जाता है। 'धी' अर्थात् बुद्धि और 'धीर' यानी बुद्धिमान्, ज्ञानी। परन्तु अकेले ज्ञान से साधना पूरी नहीं होती। ज्ञान तो है, पर सहन करने की शक्ति अर्थात् तितिक्षा

नहीं है तो मनुष्य टिक नहीं सकेगा। मनुष्य को कितनी ही दारुण यन्त्रणा दी जाय तो भी यह कहना कठिन है कि कोरे ज्ञान-बल से वह अन्ततक सब सह सकेगा। एक वैज्ञानिक की कथा प्रसिद्ध है : 'पृथ्वी घूमती है'—यह प्रतिपादन करने के कारण उसे बहुत सताया गया। तब उसने कहा—“लाओ, आप लोग जो कहेंगे उसपर, दस्तखत कर देता हूँ।” वे लोग 'पृथ्वी नहीं घूमती है' इस आशय के मजमून पर सही कराना चाहते थे। अधिक सह न सका, इसलिए बेचारे को मजबूर होना पड़ा। परन्तु जब दरअसल सही करने का समय आया, तब उसने कहा—“मैं क्या करूँ? मेरे 'नहीं' कहने पर भी वह तो घूमती है, घूमती है और अवश्य घूमती है।” भावार्थ यह कि ज्ञान के साथ तितिक्षा भी चाहिए। अक्लमन्दी के साथ दृढ़ता, कठोरता चाहिए। 'धीर' शब्द के दूसरे अर्थ में वह आ जाती है। इसके लिए धीर शब्द का अर्थ 'धृ' धातु से लगाना चाहिए। धीर कहते हैं धृतिवान्, धैर्यवान्, तितिक्षावान् को। गीता में इस शब्द का प्रयोग दोनों अर्थ समाविष्ट करके किया है।

ऐसा तत्त्वज्ञान-तितिक्षा-सम्पन्न धीर पुरुष ही शीत-उष्ण आदि द्रव्यों को सहन करने में समर्थ होकर मोक्ष-लाभ के योग्य होता है—ऐसा भगवान् ने दूसरे अध्याय के आरम्भ में कहा है। परन्तु स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में भगवान् कहते हैं—इन दोनों शक्तियों के रहने पर भी इन्द्रियां मन को चक्कर में डाल देती हैं। इन्द्रियां यत्नवान् विपश्चित् पुरुष के भी वश में नहीं होतीं, उसपर भी वे मात कर जाती हैं, ऐसा कहने पर तो मानो आशा के लिए कोई जगह ही नहीं रही। यह तो निराशावाद ही होगया। दूसरे शब्दों में आक्षेपकों का यह आक्षेप कि इन्द्रिय-निग्रह का अर्थ आपने बहुत ही कठिन कर डाला, गीता ने और भी मजबूत कर दिया। अब इसमें से रास्ता कैसे निकालें, यह बात अगले श्लोक में बतानेवाले हैं।

पांचवां व्याख्यान

१

कल मनु व गीता के वचनों का फर्क हमने देखा था । आज उसे और ज्यादा स्पष्ट कर लें तो अच्छा । मनुष्य की बुद्धि व इन्द्रियों के बीच में मन है । अतः जो इन्द्रियों पर काबू पाना मनु व गीता के वचनों का अधिक विवरण चाहता है वह मन पर भी काबू पाना चाहता है; परन्तु मन पर काबू आसानी से नहीं पाया जाता । इसलिए गीता कहती है कि पहले इन्द्रियों को वश में करो । इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसा कर लेने से मन वश में हो ही जायगा; बल्कि इन्द्रियां जब विषयों से अलग पड़ जाती हैं तब मन पर हमला करती हैं । साधक इस बात को जानता है । वह अपने को मन से अलग करके देखता है । वह जानता है कि मन पर हमला हो रहा है । वह मन के अधीन नहीं होता । उससे सहयोग भी नहीं करता । गीता की भाषा में यह भाव सूचित किया गया है, 'हरन्ति प्रसभं मनः'; इन्द्रियां जबरदस्ती उसके मन को खींच ले जाती हैं । यह नहीं कहा कि उसीको खींच ले जाती हैं । साधक का मन इन्द्रियों के साथ खींचा जाता है, साधक नहीं खींचा जाता; परन्तु मनु ने अलबत्ता ऐसा नहीं कहा है । वह कहते हैं—“ये जबरदस्त इन्द्रियां विद्वान् को भी खींच ले जाती हैं । उसके मन को ही नहीं, बल्कि खुद उसीको खींच ले जाती हैं—विद्वान्समपि कर्षति ।” इन्द्रियों को रोककर रखते-रखते भी वे मन पर हमला करती हैं । अतः ऐसा उपाय करना चाहिए कि उनका आक्रमण मन पर न होने पावे; पर प्रयत्नशील विद्वान् के लिए भी यह कठिन होता है, अर्थात् साधक की यह बिचली अवस्था गज-ग्राह जैसी होती है । मन विषय की ओर दौड़ता है । साधक उससे सहयोग नहीं करता; किन्तु वह

ऐसी स्थिति प्राप्त करना चाहता है जिससे मन उनकी ओर जाय ही नहीं। उसका सारा तत्त्व-ज्ञान और तीव्र प्रयत्न भी इसमें नाकाफी साबित होता है। सवाल होता है कि तब किया क्या जाय ? इसीका उत्तर अगले श्लोक में दिया है।

“तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥”

युक्तः सन् तानि सर्वाणि संयम्य मत् परः आसीत—ऐसा अन्वय करना चाहिए। युक्तिपूर्वक सब इन्द्रियों का संयम करके ईश्वर-परायण होकर रहे। ज्ञान व तितिक्षा के बल पर इन्द्रियों को वश में कर ही लेना चाहिए। जहाँ जरूरी हो वहाँ निग्रह व जहाँ आवश्यक हो वहाँ संयम करने की युक्ति साध ही लेनी चाहिए। इस तरह पहले युक्ति-पूर्वक इन्द्रियों को वश में कर लो, यह कहा है। निग्रह व संयम दोनों का संग्राहक एक शब्द है ‘निरोध’। गीता कहती है कि ज्ञान व तितिक्षा के बल पर निरोध-शक्ति प्राप्त करो; परन्तु इस तरह बड़ी युक्ति से इन्द्रिय-निरोध करने पर भी जबतक मन वश में न हो जाय, तबतक निरोध पूरा नहीं समझा जा सकता। मनोनिरोध के लिए मानवीय बल नाकाफी होता है। यहीं से भक्ति की शुरुआत होती है।

जब व जहाँ मनुष्य की पुरुषार्थ-शक्ति कुण्ठित होती है, टूट जाती है, तभी भक्ति की आवश्यकता उत्पन्न होती है। परिपूर्ण प्रयत्न किये बिना

भक्ति के लिए गुंजाइश नहीं है। ईश्वर ने मक्ति की आवश्यकता जो शक्ति हमें दे रखी है, उसे पूरा-पूरा

इस्तेमाल करने में ही हमारी नम्रता व आस्तिकता है। हमारे अन्दर जो शक्ति बसती है, वह ‘वासुदेव’ शक्ति है। वह ईश्वर की ही शक्ति है, वह उसने हमें पहले से ही दे रखी है। कुछ शक्ति उसने हमें दे रखी है, कुछ अपने पास रख छोड़ी है। यह जो देव-दत्त शक्ति है उसे हम स्व-शक्ति समझते हैं, यह हमारी भूल है। वस्तुतः वह ईश्वर ही की शक्ति है। इसके विपरीत ईश्वर ने जो शक्ति अपने पास रख छोड़ी है, वह भी

हमारी ही है। अपने पास की शक्ति के खर्च हो जाने पर ही उस शक्ति को मांगने का अधिकार प्राप्त होता है।

जो शक्ति हमें प्राप्त है उसको यदि हमने पूरा-पूरा इस्तेमाल न किया, तो फिर अपनी शेष रखी हुई शक्ति ईश्वर हमें दे भी कैसे ! बाप ने बेटे को व्यापार के लिए १० हजार की पूजी दी। उसने उससे काम नहीं लिया तो बाप उसे एक लाख की पूजी कैसे देगा ? यदि पहली पूजी को वह अच्छी तरह काम में लाकर दिखा देगा तो बाप

कहेगा—‘यह बाकी सब तुम्हारी ही है।’ हमारा व ईश्वर का सम्बन्ध ऐसा ही है। वह अपने पास की सारी शक्ति हमें दे देने के लिए तैयार है, परन्तु उसकी आवश्यकता अलबत्ते सिद्ध होनी चाहिए। यदि किसीने, जो-जो शक्ति उसे मिलती जाती है उसे काम में लाते-लाते, यह साबित कर दिया कि उसे ईश्वर की सारी ही शक्ति चाहिए तो इससे ईश्वर को आनन्द ही होगा। वह कहेगा—‘वाह, ऐसा ही उद्योगी भक्त तो मुझे चाहिए था।’ परन्तु संसार में ऐसा कोई कार्य ही नहीं उत्पन्न हुआ, जिसके लिए ईश्वर की तमाम शक्ति की आवश्यकता हो। अतः मनुष्य जितनी शक्ति की आवश्यकता सिद्ध करेगा, उतनी उसे ईश्वर से बिना दिक्कत मिलती रहती है। मनुष्य को कभी भी निराश होने की या हार मानने की आवश्यकता नहीं है। वह अपने पास की सारी शक्ति लगा देगा तो उसे अधिक शक्ति अवश्य ही मिल जायगी। अपने पास की शक्ति को पूरा-पूरा लगाये बिना भगवान् से यदि मदद मांगे तो उसे क्यों देने चाहिए ! भगवान् को अपनी करामात दिखाकर खुद अपनी कीर्ति तो बढ़ानी है नहीं। उसकी कीर्ति में अभी कुछ बढ़ती होना बाकी है क्या ! वह तो परिपूर्ण ही है। वह तो तुम्हारा ही वैभव व यश बढ़ाना चाहता है। तुम अपनी सारी शक्ति लगाकर प्रयत्न करो। जब थकने लगे तो ईश्वर को पुकारो, वह तुम्हें और बल देगा।

गजेन्द्र-मोक्ष का उदाहरण देते हुए भक्ति-मार्ग में यह बताया जाता

है कि पहले गजेन्द्र ने अपनी शक्ति से विजय प्राप्त करने का प्रयत्न किया।

इसके लिए गजेन्द्र का
संशोधित दृष्टांत

अतः भगवान् उसकी सहायता के लिए नहीं आये। उसे अपनी शक्ति का अहंकार था। यदि गजेन्द्र को अपनी शक्ति का अहंकार था तो ईश्वर ने उसका गर्व-परिहार होने के बाद ही उसकी सहायता की यह, अच्छा ही किया; परन्तु फर्ज कीजिये कि एक ऐसा गजेन्द्र है जिसे अपनी शक्ति का अहंकार नहीं है, परन्तु अपने बल को काम में न लाकर वह भगवान् से मदद मांगता है तो इसमें अपने पास की शक्ति को न लगाने की हठ अहंकार ही तो है। उसके पास जो बल है उसे वह क्यों न लगाये ! वह बल उसका अपना तो है नहीं ! है तो वह भगवान् का ही दिया हुआ ! मेरा बल भी भगवान् का ही है, ऐसी भावना से स्वशक्ति लगाना अहंकार नहीं हो सकता। उलटे अपने पास का बल न लगाना अहंकार, आलस्य और अश्रद्धा है। जो शक्ति तेरी नहीं है उसे तो तू रख छोड़ता है और फिर भगवान् से सहायता मांगने जाता है। अपने अन्दर जो भगवान् की शक्ति मौजूद है उसे निरहंकार होकर पूरा-पूरा लगा देख और फिर अधिक शक्ति को आवाहन कर ! जो शक्ति पास है उसे अच्छी तरह लगा लोगे तो जो नहीं है वह ईश्वर अवश्य देता है।

परन्तु इसमें भी आखिर तो ईश्वर पर ही भरोसा रखकर चलना पड़ता है। अतः कोई कहेंगे कि यह तो कुल मिलाकर पराधीनता ही हुई। परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है; ईश्वर-शरणता में पराधीनता क्योंकि यों देखा जाय तो जहां हमारी नहीं है शक्ति खतम हुई कि वहीं पराधीनता आ

गई; परन्तु ईश्वर की शक्ति का आवाहन करना सचमुच में पराधीनता नहीं है। ईश्वर को यदि पराया मानें तो वह पराधीनता होगी; परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। कोट की जेब के दो हिस्से कर लिये और दोनों में पैसे भरकर रख लिये। ऊपर के हिस्से के पैसे खर्च हो जाने पर अन्दर के हिस्से से निकाल लिये। दोनों हिस्से हैं तो अपनी ही जेब के न ! अथवा कुछ रुपये तुम्हारी अपनी ट्रंक में हैं, व कुछ बैंक में जमा

हैं, ऐसा ही समझ लो। ईश्वर और हम, दोनों एक ही चैतन्य के रूप हैं। हम अंशमात्र हैं, ईश्वर उस चैतन्य का पूर्णरूप है। तो भी चैतन्य तो एक ही है। अतः जो उसकी शक्ति है, वही हमारी शक्ति है। इसलिए ईश्वर से शक्ति मांगने व प्राप्त करने में पराधीनता नहीं है।

२

मनोनिरोध-सम्बन्धी प्रयत्नों की पराकाष्ठा हो जाने पर भक्ति का स्थान आता है और हमने देखा है कि तभी उसकी आवश्यकता भी उत्पन्न होती है। अपना प्रयत्न कर चुकने पर ही स्थूल सांसारिक कार्य ईश्वर हम दूसरी सहायता के लिए बेचैन हो उठते की सहायता के विषय नहीं हैं। इस व्याकुलता में से ही भक्ति का जन्म होता है। इससे पहले व्याकुलता नहीं होती, इसीसे भक्ति भी नहीं रहती। श्रद्धा हो सकती है, सो पहले अपनी शक्ति लगाकर इन्द्रियों को वश में कर लो; विषयों से अलग हुई इन्द्रियां जब मन पर धावा करने लगें तब उस सूक्ष्म आक्रमण के प्रतिकार के लिए ईश्वर से सहायता मांगो। ऐसे सूक्ष्म व पवित्र कार्य में ही ईश्वर की सहायता मांगना आस्तिकता कहलाती है। लोगों में यह रिवाज पड़ गया है कि साधारण व्यावहारिक कार्यों में भगवान् से मदद मांगें। ऐसों को हम आस्तिक कहते हैं; परन्तु सच पूछिये तो यह आस्तिकता नहीं है। परीक्षा पास होने के लिए ईश्वर की सहायता मांगना कौन-सी आस्तिकता है? यह तो कम-अकली है, पुरुषार्थहीनता है। खेत में फसल अच्छी नहीं आई, करो ईश्वर से प्रार्थना, मांगो ईश्वर से मदद; मानो इन सब प्रश्नों को हल करने की शक्ति हमें ईश्वर ने दी ही नहीं। ये ईश्वर की सहायता के विषय ही नहीं हैं। सकाम भावना से बाह्य कार्यों में ईश्वर की सहायता मांगना हमें शोभा नहीं देता।

‘युद्ध में हमारी विजय हो’—ऐसी प्रार्थना दोनों पक्षवाले करते हैं।

ईश्वर से याचना—मांगने की उचित रीति

अब ईश्वर बेचारा खुद भी तो अपनी इच्छा रखता है। दोनों को विजय कराना उसके लिए शक्य नहीं, परन्तु मैं उसे अपनी इच्छा का गुलाम मानता हूँ। मैं आशा रखता हूँ कि वह मेरी इच्छा

के अनुसार अपनी दैवी शक्ति लगावे। उसकी इच्छा के अनुकूल अपनी इच्छा को बनाना आस्तिकता है। परन्तु मैं इसके विपरीत ही करता हूँ। मैंने अपनी यह इच्छा निश्चित ही कर डाली है कि मेरी विजय हो। सिर्फ उससे विजय की प्रार्थना-भर करता हूँ। सच पूछिये तो प्रार्थना ऐसी करनी चाहिए—‘यदि मेरा पक्ष न्याय का हो तो मेरी विजय हो, नहीं तो मेरी हार होने दे, जिससे मेरी बुद्धि तो शुद्ध होगी।’ एक भारतीय आख्यायिका है : अंधे धृतराष्ट्र की सहानुभूति में गांधारी ने अपनी आंखों पर पट्टी बांध रखी थी। उसका पुत्र दुर्योधन युद्ध के लिए रवाना होने से पहले उसके पैर छूने आया, तो उसने आशीष दी—‘तू सन्मार्ग पर चल रहा हो तो तेरी विजय हो!’—यही सच्चा आशीर्वाद है। ‘भगवान् मेरी खोई हुई चीज मुझे ला दे’—ऐसी प्रार्थना भगवान् से क्या करना है! प्रार्थना यही करनी चाहिए—‘वस्तु मिले या न मिले, पर मेरी शान्ति न डिगे!’ बच्चा बीमार होगया तो प्रार्थना करने लगे—‘मेरा बच्चा न मरे!’ यह क्या प्रार्थना हुई? मनुष्य कभी-न-कभी तो मरता ही है। यह निश्चित बात है। अब यदि ऐसी प्रार्थना करते हैं कि वह न मरे तो फिर यह ठहराना होगा कि फलां वक्त मरने में हर्ज नहीं। अब नहीं, २८ तारीख को मरे—ऐसी निश्चित प्रार्थना भगवान् से करो। पर ऐसी याचना करता कौन है? अतः मांगना ही हो तो भगवान् से यह मांगना चाहिए—‘लड़का मरनेवाला हो तो भले ही मरे; परन्तु मरते समय उसे मानसिक व्याकुलता न हो!’

पहले हम यह तय कर लेते हैं कि हमारे लिए क्या योग्य है, फिर ईश्वर से उसकी याचना करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हम भगवान् को अपनी बुद्धि का गुलाम बनाना चाहते हैं। उपनिषद् में एक कथा है : भगवान् किसी पर प्रसन्न हुए। उन्होंने उससे कहा—वर मांगो ! उसने कहा, ‘प्रभो, मैं क्या जानूँ, कौन-सा वर मांगूँ? मुझे इस बात का ज्ञान ही नहीं है कि मेरे लिए क्या योग्य है। तुम्हीं सब-कुछ जानते हो। जो मेरे लिए उचित हो, वह तुम्हीं दे दो!’ वह भक्त परीक्षा में पास होगया। वही

मेरे लिए क्या उचित है
यह एक ईश्वर ही जानता है,
अतः सकाम प्रार्थना न करें

वास्तविक परीक्षा का समय था। उस समय उसने स्वयं निर्णय करके उसे भगवान् पर लादने की कोशिश नहीं की। भगवान् जो मेरी बुद्धि के अनुसार चलने के लिए तैयार नहीं होता, इसीमें मेरा कल्याण है। वह यदि मेरी बुद्धि के अनुसार चलने को तैयार होगया तो यह निश्चित समझो कि मेरा अकल्याण करके वह मुझे अक्लमन्दी सिखाना चाहता है। हम अपनी बुद्धि को प्रमाण मानते हैं और फिर चाहते हैं कि हमारी बुद्धि के निर्णय के अनुसार भगवान् चलें। ऐसा करना मानो भगवान् को हमारी बुद्धि के अनुसार चलनेवाला अपना नौकर समझना है। भले ही वह शक्तिशाली हो, पर है हमारा नौकर ही। निर्णय का विचार करने का अधिकार उसे नहीं। विचार करेंगे हम, निर्णय करेंगे हम; हम हैं 'विधिमण्डल'; वह है सिर्फ अमल में लानेवाले सहकमे का हाकिम। किसी जड़ उपकरण की तरह भगवान् से काम लेने की चाह रखना जड़ता का लक्षण है; अहंकार तो है ही। इसमें भगवान् का अपमान है, हमारी नास्तिकता है। जड़ता का यह भाग सभी धर्मों में भक्ति के नाम पर आ घुसा है। सकाम कर्मों में भगवान् की सहायता मांगना भक्ति का लक्षण नहीं। गीता ने इसीलिए स्थान-स्थान पर सकामता पर प्रहार किया है। गीता का मानो सकामता से सदा का झगडा ही है।

परन्तु गीता में भगवान् ने दया-भाव से कहीं-कहीं ऐसा भी कहा है कि भक्त यदि सकाम-भाव से मेरी शरण आवे तो मैं उसे फल देता हूं।

सकाम-भक्ति को भी शर्त
के साथ मान्यता

उतने भर के लिए मैं उसको कामना पूर्ण कर देता हूं; परन्तु वह दया-भाव से दिया गया आश्वासन मात्र है। वह कोई शास्त्र नहीं है। जो अपना हित साधना चाहता है, उसे तो निष्काम-भाव से ही भगवान् की शरण जाना चाहिए। सकाम-भाव से शरण जानेवाले को भी फल का आश्वासन दिया है, किन्तु वह सकाम प्रार्थना का कोई परवाना नहीं है। कोई सकामता से ही क्यों न हो, परन्तु अनन्यभाव से ईश्वर की शरण आया तो भी बहुत हुआ, ऐसी करुणा उसमें भरी हुई है। सकामता में मूढ़ता तो है ही, अवनति की सम्भावना भी है; परन्तु यदि अनन्य-भाव हो तो उन्नति भी सम्भव है। उसका अर्थ

यह है कि सकामता के नष्ट हो जाने की सम्भावना है। अनन्यभाव से, मथित हृदय से, यदि सकाम प्रार्थना भी की तो ईश्वर के स्पर्श से वृत्ति पवित्र हो जायगी। परन्तु साधारणतः मनुष्य सकाम-प्रार्थना अनन्य-भाव से नहीं करता। ईश्वर पर उसकी न तो पूरी-पूरी अश्रद्धा ही होती है, न श्रद्धा ही। बीमार होने पर इधर डाक्टरों के पैर पकड़ता है, उधर ब्राह्मणों से अनुष्ठान कराता है। उसकी श्रद्धा भी डगमग और पुरुषार्थ भी अधकचरा! ऐसी दुर्बल श्रद्धा अधःपात का कारण होती है। सकामता निचले दर्जे की चीज़ होने पर भी यदि उसके साथ अनन्य-भक्ति का योग हो तो वह चल सकती है। अनन्य-निष्ठा से वह सकामता भी पावन हो जायगी। सच बात तो यह है कि निष्कामता और अनन्यता का योग ही इष्ट—वांछनीय है।

छठा व्याख्यान

१

इन्द्रिय-निरोध का कार्य जितना स्थूल है उतना तो साधक को स्वशक्ति से कर लेना चाहिए । परन्तु इतने से, अर्थात् स्थूल निग्रह से इन्द्रिय-जय पूरा नहीं होता । मन में से अब तक के विवेचन का उसका रस, स्वाद, चला जाना चाहिए; सारांश : यतत् + विपश्चित् किन्तु इन्द्रियां जब मन पर हमला करती + मत्पर = स्थितप्रज्ञ हैं तब मनुष्य की दोनों शक्तियां, जिन्हें

हमने ज्ञान व तितिक्षा कहा है, नाकाफी साबित होती हैं । इन शक्तियों को विवेक व वैराग्य भी कह सकते हैं । कब इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए व कब संयम—यह जानने की शक्ति ‘विवेक’ है । विवेक के द्वारा निग्रह व संयम के अवसरों को पहचान लेने के बाद उसके अनुसार चलने की शक्ति है, ‘वैराग्य’ । परन्तु इस तरह विवेक-वैराग्यपूर्वक इन्द्रिय-निरोध का प्रयत्न करने पर भी रस बाकी रह जाता है । अतः रस-निवृत्ति के लिए, कहते हैं—‘मत्परायण होओ !’ विवेक व वैराग्य, ये दोनों शक्तियां काम में लाने के बाद तथा इन्हें काम में लाते हुए ईश्वर-परायण होकर रहना चाहिए । इस प्रकार इन तीनों श्लोकों में इन्द्रिय-जय की परिपूर्ण व्याख्या व साधना बताई है । इन्द्रियों का निग्रह व संयम करके कामना-मुक्ति प्राप्त करना इन्द्रिय-जय की परिपूर्ण व्याख्या है । इसकी तिहरी साधना तीन विशेषणों के द्वारा दर्साई है—यतत्, विपश्चित् व मत्पर । इन तीन विशेषणों का जोड़ लगावें तो गीता का ‘स्थितप्रज्ञ’ हो जाता है । इस प्रकार इन्द्रिय-निरोध-सम्बन्धी विज्ञान के प्रतिपादक इन तीन श्लोकों का त्रिक यहां समाप्त हुआ ।

परन्तु यहां की भाषा का जो अर्थ अबतक हमने लगाया है, उससे भी गहरा अर्थ वह रखती है। इन्द्रिय-निरोध में मनुष्य की दोनों शक्तियां नाकाफी होती हैं, अतः उसकी पूर्ति के लिए साधक ईश्वर-परायण हो, इतना ही यहां नहीं कहा गया है; बल्कि युक्तिपूर्वक जितना हो सके, इन्द्रिय-निग्रह साधकर ईश्वर-परायण हो रहे, ऐसी भाषा यहां है। इस भाषा का यहां ऐसा गहरा अर्थ है कि ईश्वर-परायणता मनुष्य का स्वतन्त्र ध्येय है और यही अर्थ शास्त्रीय दृष्टि से ठीक भी है। सो कैसे, यह सब देखना चाहिए।

इन्द्रियों ने जब मन पर हमला बोल दिया तो फिर साधक मन के दोष निकालने का प्रयत्न करता है; परन्तु ऐसा सतत चिन्तन करते रहने से कि 'मन का विकार निकाल डालना चाहिए—निकाल डालना चाहिए, निकाल डालना चाहिए', वह विकार निकलने के बजाय उलटा पक्का हो जाता है, क्योंकि मन उसीका चिन्तन करता रहता है। इसे विरोधी भक्ति कहते हैं। दुर्जनता के प्रतिकार के ही लिए क्यों न हो, उसका चिन्तन करते रहने से चित्त में दुर्जनता उत्पन्न होती है। विरोधी चिन्तन से विकार उत्पन्न होने के बदले उलटा गहरी जड़ जमा लेता है। 'विरोधी चिन्तन से कंस कृष्णमय हो गया था'—ऐसा भागवत में लिखा है। ऐसा अनुभव भी है कि केवल निषेधक साधन से मनुष्य विकार में ग्रस्त हो जाता है। 'विषय-रस को मन से निकाल डालना चाहिए', ऐसा निषेधक साध्य सामने रखने से निषेधक साधन प्राप्त होंगे। अतः दृष्टि के सामने कोई विधायक ध्येय और उसके अनुरूप कोई विधायक साधना होनी चाहिए। ब्रह्म-प्राप्ति की छटपटाहट, ऐसा विधायक ध्येय है।

ब्रह्म से तन्मय होने का अर्थात् ईश्वर-परायण होने का प्रयत्न करना विधायक साधन है। इसीको 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं। हमारी वृत्ति का ब्रह्म से या ईश्वर से तादात्म्य होना ब्रह्मचर्य अर्थात् ईश्वर-परायणता इस तरह का विधायक ध्येय है

चाहिए। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल इन्द्रिय-निग्रह नहीं। इन्द्रिय-निग्रह कोई स्वतन्त्र अथवा अन्तिम साध्य नहीं है। उद्देश्य तो है, प्रज्ञा को स्थिर करना। इन्द्रिय-निग्रह प्रज्ञा को स्थिर करने का साधन है। परन्तु प्रज्ञा स्थिर कहां करें? सब ओर से उसे हटाकर स्थिर किस जगह करें? उसे स्थिर होने के लिए कोई जगह चाहिए न! इसका उत्तर है—उसे ईश्वर में स्थिर करो। यहां यह नहीं कहा है—‘इन्द्रिय-निग्रह के लिए मत्परायण होओ, कामनानिवृत्ति के लिए मत्परायण होओ!’ यह तो निषेधक अर्थ हुआ। यह पूर्ण अर्थ नहीं है। इस वचन का विधायक अर्थ है—‘इन्द्रिय-निग्रह करके मत्परायण होओ!’ कामनाएं यदि बाहर से निवृत्त हों तो फिर उन्हें ठहरने की, रहने की जगह कौन-सी? आत्मा ही वह स्थान है। यही आत्मा इस जगह ‘मत्परायण’ शब्द में ध्वनित किया गया है। कामना-रूपी आलम्बन यदि निकाल लिया तो मन निरावलम्ब खाली हो जायगा। उस दशा में वह अधिक समय तक नहीं रह सकता। इसलिए उसे ईश्वर का आधार देकर ईश्वर-चिन्तन से भर देना है। वह जब ईश्वर-चिन्तन में मग्न हो जायगा, तो फिर उसपर इन्द्रियों के आक्रमण की आशंका नहीं रह जायगी।

इन्द्रिय-निरोध की पूर्णता के लिए ईश्वर-भक्ति की सहायता लेना उचित है, ऐसा पहले कहा। परन्तु वह कथन भी पूर्ण नहीं है;

इश्वर-भक्ति इश्वर-भक्ति
के ही लिए है क्योंकि ईश्वर-भक्ति किसीका साधन
न होकर खुद ही स्वयम्भू साध्य है,
ऐसा बाद में मालूम हुआ। ईश्वर-

भक्ति का कोई भी अवान्तर उद्देश्य नहीं हो सकता। ईश्वर-भक्ति ईश्वर-भक्ति के ही लिए है। आजकल हम ‘कला कला के लिए’, ‘विद्या विद्या के लिए’, ‘ज्ञान ज्ञान के लिए’, ऐसी भाषा सुनते हैं, परन्तु यह टिकनेवाली नहीं। सांख्यों ने इस विषय में पहले ही निर्णय दे रखा है। जड़ वस्तु स्वयं अपने लिए ही हो नहीं सकती। प्रकृति प्रकृति के लिए नहीं है, प्रकृति पुरुष के लिए है। कला आत्मा के लिए है। विद्या व ज्ञान मेरे लिए हैं। ‘जड़ जड़ के लिए’, यह भाषा

ही गलत है; किन्तु यह भाषा और सब बातों में गलत साबित हो तो भी ईश्वर-भक्ति के विषय में सच है। 'ईश्वर-भक्ति के लिए ही ईश्वर-भक्ति', यह भाषा गलत नहीं है; क्योंकि ईश्वर जड़ वस्तु नहीं, बाह्य वस्तु नहीं, वह तो मेरा ही परिशुद्ध रूप है। अतः ईश्वर-भक्ति ही ध्येय है व दूसरी सब कामनाएं और साधनाएं उसीके लिए हैं—ऐसा होना चाहिए।

बीमारी आगई है। उसे दूर करने के लिए उपाय हो रहा है। तो अब बीमारी को दूर करने की जरूरत क्यों है? बीमारी को दूर करना कोई स्वतन्त्र ध्येय नहीं; ध्येय तो **भक्ति की भूमिका प्राकृतिक चिकित्सा की तरह** है आत्म-कल्याण। आत्म-कल्याण के लिए यदि बीमारी का दूर होना आवश्यक हो तो दूर होना इष्ट है; यदि दूर न होना आवश्यक होगा तो दूर न होना इष्ट साबित होगा। एक बार एक शास्त्रज्ञ से बातचीत हुई। वह प्राकृतिक चिकित्सा के समर्थक थे। उनसे पूछा, 'आपके शास्त्रानुसार क्या सभी रोगी चंगे हो जाते हैं?' उन्होंने कहा, 'नहीं, सब रोगी नहीं अच्छे होते, सब रोग अच्छे होते हैं।' उनकी भाषा सुनिश्चित थी। उनकी पद्धति में जो रोगी मरने लायक होते हैं वे मर जाते हैं, परन्तु मरते हैं शान्तिपूर्वक। अच्छे होने लायक रोगी अच्छे हो जाते हैं। वे शान्तिपूर्वक अच्छे होते हैं। यही बात यहां भी है। भक्त की भूमिका इस प्राकृतिक चिकित्सा की तरह है। वह कहता है, 'ईश्वर की योजना के अनुसार मेरी आत्मोन्नति के लिए बीमारी दूर होना अभीष्ट हो तो दूर हो! उसकी योजना के अनुसार आत्मोन्नति के लिए दूर न होना अभीष्ट हो तो दूर न हो!' वह तो सब अवान्तर निर्णयों का भार परमात्मा पर छोड़कर छुट्टी पा लेता है। उसकी बुद्धि ने एक ही निर्णय कर रखा है—मुझे आत्मोन्नति चाहिए, ईश्वर-भक्ति चाहिए। इतना ही वह जानता है। और किसी बात को नहीं जानता। वह सब बाह्य कर्म ईश्वर-भक्ति की लब्धि के लिए करता है। किसी भी बाह्य काम के लिए वह ईश्वर-भक्ति को एकसप्लॉयट नहीं करना चाहता, ठगना नहीं चाहता।

२

अब यहां यह पूछा जा सकता है कि भले ही गौण रूप में क्यों न हो और अनन्यता की शर्त पर ही क्यों न हो, गीता ने जो सकाम भक्ति को जगह दी है वह दी ही क्यों ? इसका उत्तर यह है कि कामना-पूर्ति के लिए यदि किसीने दूसरे सब अवान्तर आधार छोड़कर एक ईश्वर का ही पल्ला अनन्य-भाव से पकड़ लिया तो यह समझना चाहिए कि उसने भी एक उत्तम निश्चय किया । और सब आधारों को छोड़कर एक ईश्वर पर ही भरोसा रखना कोई ऐसा-वैसा निश्चय नहीं है । अतएव सकामता निचले दरजे की होने पर भी यह निश्चय ही आत्मोन्नति में साधक होता है । आगे नवें अध्याय में तो इससे भी एक कदम आगे कहा है—‘मुझे अनन्य भाव से भजनेवाला अनन्य दुराचारी हो तो भी शीघ्र ही उसकी भावना शुद्ध हो जाती है ।’ ‘क्षिप्रं भवति धर्मात्मा’—वह शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है । यह अनन्यता का सामर्थ्य है । बीमारी आई, उसे दूर करने की चिन्ता लगी, तो डाल दया सारा भार भगवान् पर ही । न डॉक्टर चाहिए, न वैद्य । खाना-पीना भी छोड़ दिया । ‘भगवान्, मुझे बचाओ !’ कहकर अनन्य भाव से उसीको पुकारा । ईश्वर उसकी श्रद्धा देखकर या तो अच्छा ही कर देगा या प्रत्यक्ष दर्शन देकर उसे अपने पास भी ले जायगा । दूसरी दृष्टि से लोगों को ऐसा दिखाई देगा कि उसकी कामना पूरी नहीं हुई; परन्तु भगवान् पर अनन्य श्रद्धा रहने के कारण भक्त को ऐसा ही अनुभव होगा कि मेरा तो अत्यन्त कल्याण हुआ ।

इस विषय में सुदामदेव का उदाहरण बहुत मौजू है । दरिद्रता से अतिशय पीड़ित होने के कारण उसकी पत्नी ने उसे श्रीकृष्ण के पाम भेजा । श्रीकृष्ण ने उसे कुछ न देकर सूखा ही घर लौटा दिया । खुद उसे पहुंचाने बड़ी दूर तक साथ आये । सुदाम-देव कुछ चिबड़ा पल्ले में बाँधकर ले गये थे, सो भी गंवाकर खाली हाथ लौटे, पर मन में बहुत आनन्द हो रहा है । ‘पत्नी ने मुझे

कामना लेकर भगवान् के यहां भेजा था। पर वह माधव कितना दयालु है ! उसने मेरी ऐसी-वैसी कामना पूर्ण नहीं की।' यह कहते हुए वह अपनी भक्ति को पुष्ट करता हुआ घर लौटा तो क्या देखता है कि सारा गांव सोने का बन गया है। 'भगवान् का कैसा अनुग्रह कि उसने सारा गांव ही सोने का बना दिया ! किन्तु यह मेरे तुच्छ सुखोपभोग के लिए थोड़े ही है। भगवान् की यह देन जनता की सेवा में ही लगाऊँ न ?' भगवान् ने दिया तो भी अनुग्रह, न दिया तो भी उसका अनुग्रह ही, ऐसी अनन्यता की भावना में ही महिमा समाई हुई है।

एकनाथ को भगवान् ने मन के माफिक पत्नी दी। उन्हें लगा— 'भगवान् का कितना अनुग्रह है मुझपर ! अब इसकी सहायता से जल्दी ईश्वर-प्राप्ति करूंगा।' तुकाराम भक्त को सब बातों में ईश्वर की कृपा दिखाई देती है को अनुकूल पत्नी नहीं मिली। वे कहते हैं—'भगवान् का मुझपर कितना अनुग्रह है कि उन्होंने मुझे मन-माफिक स्त्री नहीं दी, नहीं तो मैं अवश्य इस संसार में फंस जाता !' पत्नी मन के माफिक मिली तो भी अनुग्रह, मन के खिलाफ मिली तो भी अनुग्रह। न मिले तब भी अनुग्रह, और मिलकर मर गई तो भी अनुग्रह ही !

“पत्नी मरी, पाई मुक्ति।

मानो दे दी माया मुक्ति ॥

प्रभुजी अब हम दोनों राजा ॥”

‘भगवान्, तेरे-मेरे बीच एक परदा था, सो अब चला गया। अब हम दोनों का एक-छत्र राज्य हो गया।' इस तरह भक्तों को सब बातों में परमेश्वर की कृपा ही दीख पड़ती है। अनन्य भक्त की भूमिका की यही महिमा है।

कामनापूर्वक परन्तु अनन्यता से की गई ईश्वर-भक्ति में उद्देश्य

हीन कोटि का होने अथवा दिखाई देने पर भी अनन्यता की बदौलत भगवान् की कृपा से चित्त-शुद्धि होती अनन्य भक्त की सकामता है; अथवा दूसरी तरह से कहें तो व्यापक सद्भावना ही है; सकामता का लोप होकर निष्कामता की एक लौकिक दृष्टांत प्राप्ति होती है; अथवा और भी दूसरी भाषा में कहें तो सकामता ही निष्काम बन जाती है। बल्कि अनन्यता से युक्त सकामता, सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो, संकुचित सकामता नहीं होती, वरन् व्यापक सद्भावना ही होती है। इसके लिए हम बड़े उदाहरणों को छोड़कर एक छोटा-सा लौकिक उदाहरण ही लें। मान लीजिये कि एक स्त्री की ईश्वर पर अनन्य भक्ति है। उसकी नथ खो गई है। वह चाहती है कि मिल जाय। वह कहती है—‘भगवान्, मेरी नथ मिल जाय ! देख, मैंने तेरी भक्ति में ज़रा भी कसर नहीं रखी है। फिर भला मेरी नथ क्यों खो गई ? ओर उसे लेने की इच्छा भी किसीको क्यों हुई ? अब मैं तो उसे खोजने की कोई कोशिश करूंगी नहीं, पुलिस में भी रिपोर्ट नहीं करूंगी। मन से भी किसीपर संदेह नहीं करूंगी। जिस किसीने ली है उसमें तू ही सद्भावना जाग्रत कर देगा तो वह वापस ला देगा। उस हालत में मैं प्रसाद चढ़ाऊंगी। जिसने चुराई है, उसे उसमें से आधा प्रसाद दूंगी। उसके प्रति तुच्छ भाव मन में न आने दूंगी और मैं तेरी भक्ति और भी जोर से करूंगी। यदि तूने उसे ऐसी सद्बुद्धि न दी तो मैं उसपर क्रोध न करूंगी, तुझपर करूंगी और उस क्रोध में और भी वेग से तेरी भक्ति करने लगूंगी। अब तुझे जो-कुछ करना हो सो कर !’ जब अनन्य भक्ति व सकामता दोनों की एकत्र कल्पना की जाती है, तब उसका इतना गहरा अर्थ होता है। अब इस कल्पित स्त्री की नथ-विषयक कामना वास्तव में क्या है ? संसार से किसीके मन में चोरी की प्रेरणा न हो, संसार की वासना शुद्ध रहे—यही न अर्थ हुआ उस कामना का ! इतना होने पर अब यह तो ईश्वर की मर्जी पर ही रहा कि वह इस नथ को वापस दिला देगा या नहीं। उसके शासन के अनुसार जो उचित होगा, सो वह करेगा। उसका शासन यों निश्चित है, पर हम उसे नहीं जानते। यदि हमें

यह मालूम हो जाय तो फिर हम ही ईश्वर न हो जायें ! उसका शास्त्र जो-कुछ हो, उस स्त्री को तो दोनों दृष्टियों से भक्ति ही करनी है । अनन्य भक्ति व सकामता के योग से क्या फलित निकलता है, यह बात इस उदाहरण से समझ में आ जायगी ।

३

इस सबका अर्थ यह हुआ कि अवान्तर कामना तो क्या, इन्द्रिय-निग्रह-रूपी साधना भी निम्न कोटि की है; ईश्वर-परायणता ही असली चीज है । गीता का थोड़े में, किन्तु बलपूर्वक ईश्वर-परायणता ही मुख्य कथन यह है—‘तू मत्परायण हो और रुचि-पूर्वक विषयाधीन न हो तो काफी है । इससे तेरी सारी वासनाएं धुलकर साफ हो

जायंगी ।’ चित्त में वासनाएं उठती रहें, परन्तु उसके अनुकूल बाह्य कृति न होने दे तो काफी है । वासनानुकूल कृति करने से वासना पक्की हो जाती है, अतः ऐसा न कर; परन्तु दूसरी ओर साधक के बाह्य इन्द्रिय-निग्रह कर लेने पर भी चित्त की वासना छूट तो नहीं जाती ! वह भीतर-ही-भीतर धुंधुआती और सताती रहती है । चित्त को चैन नहीं पड़ने देती । तो वह क्या करे ? तो कहते हैं कि उस वासना को ही ईश्वर-परायण कर दे । एकनाथ ने भगवान् से प्रार्थना की है—‘मेरे चित्त में जो-जो वासनाएं उठें, वह तू ही हो जाय ।’ इस तरह तमाम वासनाओं का रूपान्तर हो जाता है । वासना ईश्वरमय हो जाती है । भक्ति से वह उन्नत होती जाती है ।

वस्तुतः किसी भी मनुष्य में बुरी वासना रहती ही नहीं है; पर वह खुद भी इस बात को नहीं जानता, वासना मूलतः बुरी नहीं है; दूसरे नहीं जानते । बाह्य वस्तु की प्राप्ति ईश्वर-परायणता से वासना के लिए वह दौड़-धूप करता दिखाई देता है । सारी बाह्य सृष्टि मेरी हो, इसके लिए वह प्रयत्न करता है । कभी-कभी तो निषिद्ध वस्तु के लिए भी वह प्रयत्न करता हुआ

दीखता है। सच पूछिये तो शरीर के कंदखाने में बन्द आत्मा की व्यापक होने की यह कोशिश है। वह विराट् सृष्टि से अपनी दृष्टि के अनुसार एक-रूप होना चाहता है। उस शरीर के संकुचित दायरे में उसे चैन नहीं पड़ती। शराबी शराब पीता है। उसके मूल में भी वही वेचैनी है। भक्ति-मार्ग उस शराबी से कहेगा—‘तू यह बाहरी तुच्छ शराब पीना बन्द कर दे। भगवान् को ही तू अपनी शराब बना ले। उसकी भक्ति की शराब पीता जा !’ उमर खय्याम की रुबाइयों में यही प्रकार दिखाई देता है। ‘वासो यथा परिकृतं मदिरा-मदान्धः’ ऐसी स्थिति उस भक्ति-रूपी शराब के प्याले से हो जाती है। इस तरह वासना भगवान् के अर्पण करने से उसे दिव्य रूप प्राप्त होता है। इसलिए भगवान् कहते हैं—मत्परायण हो ! चित्त में विषय-वासना पैदा हो तो भी घबरा मत, किंकर्तव्यमूढ़ मत बन ! अलवत्ता विषय-भोग में मत पड़, वासना ईश्वर के अर्पण कर दे। काम-क्रोध भी उसीको चढ़ा दे। इससे उन विकारों का और तेरी वासना का रूपान्तर ही हो जायगा और तब चित्त के विकार शमन होकर प्रज्ञा स्थिर हो जायगी।

भौतिक विद्या की उपासना में भी यदि निष्कामता, अनन्यता व ईश्वर-भावना हो तो चित्त-शुद्धि हो सकती है। इस दृष्टि से भौतिक व आध्यात्मिक, ऐसा भेद ही नहीं रह जाता। यह भेद वास्तव में सच है ही नहीं। तब गणितोपासक का ईश्वर गणित ही हो जायगा। अलवत्ते उस भावना से उसकी साधना हो रही होगी तो। एक गणित-शास्त्रज्ञ की बात कहते हैं कि उसने एक अपूर्व शोध की। संसार के ज्ञान में वृद्धि कर देनेवाली यह शोध उसने कागज पर लिखकर रखी। बाद में संयोग से वे तमाम कागज कहीं नष्ट हो गये, परन्तु वह गणितज्ञ बिलकुल शान्त बना रहा। उसके चित्त में ज़रा भी क्षोभ न हुआ। केवल गणित से इतनी शान्ति मिलना संभवनीय नहीं। मानना होगा कि वह गणित की उपासना ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर रहा

था । हो सकता है कि वह ईश्वर का नाम भी जानता हो । परन्तु इससे उसकी उपासना में अन्तर नहीं पड़ता । मुझ-जैसा कोई चरखा कातने में तन्मय हो जायगा । कोई दूसरा किसी और पवित्र सामाजिक उद्योग में तन्मय हो रहेगा । उन-उन विषयों को जो ईश्वर-स्वरूप देखकर उनकी उपासना करेगा, उसके चित्त पर इन्द्रियों का आक्रमण न हो सकेगा । जो लोग केवल भौतिक दृष्टि से विज्ञान की अथवा इतर विषयों की साधना करते हैं, उन्हें यह सिद्धि अलवत्ते नहीं मिल सकती । कारण साफ ही है । भौतिक विषय आखिर आत्मा से जुदा पड़ जाते हैं । आत्म-भिन्न अनात्म विषयों में लीन होने का कितना ही प्रयत्न आत्मा करे तो भी वह कैसे सफल होगा ? वही विषय यदि ईश्वर-भावना भावित हो जाय तो फिर उनमें आत्मा को लीन होने में कोई कठिनाई नहीं रहती । उनमें वह पूर्णतः विसर्जन पा सकता है ।

सातवां व्याख्यान

१

स्थित-प्रज्ञ का प्रकट लक्षण है जितेन्द्रियता । उसका विस्तार बीच के दस श्लोकों से किया गया है । उनमें से तीन श्लोकों का पहला विज्ञान-परिच्छेद पूरा हो गया । अब अन्वय-व्यतिरेक द्वारा इस बात का विवेचन किया गया है कि इन्द्रिय-जय का प्रज्ञा से क्या सम्बन्ध है । पहले दो श्लोकों में व्यतिरेक से व पिछले दो श्लोकों में अन्वय से इन्द्रिय-जय की स्थितप्रज्ञता के लिए आवश्यकता बताई गई है । यहां से इन्द्रिय-जय का तत्त्व-ज्ञान बताना शुरू हुआ है ।

“ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।

संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥”

जो इन्द्रिय-निरोध नहीं कर पाया है, जो विषयों का ध्यान करता रहता है उसे उस विषय का संग लग जाता है । संग का अर्थ है संगति, परिचय । विषय का संग लगता है, इसका अर्थ हुआ विषयों में स्नेह उत्पन्न होता है । मन विषय में लिप्त होने लगता है । उससे काम पैदा होता है । पहले विषयों का ध्यान, फिर संग, व फिर काम, ऐसा उत्तरोत्तर क्रम है । इन तीनों वृत्तियों में कोई बड़ा फर्क नहीं है; बल्कि ये एक ही वृत्ति के तीन रूप हैं । उद्गम से लेकर मुख तक किसी बड़ी नदी के अनेक नाम होते हैं, तो भी उसका सारा प्रवाह एक ही रहता है । उसी तरह एक ही प्रवाह-शील वृत्ति के ये तीन नाम हैं । मिट्टी व मिट्टी की बनी वस्तुओं में

फर्क भी आखिर क्या होगा ? चिन्तन के द्वारा विषयों से परिचय होता है, अर्थात् विषय मन में साकार होने लगता है । कोई मनुष्य किसी मित्र के आग्रह से सहज देखने के लिए शराब की दुकान पर चला गया । फिर अपने मित्र के खिंचाव से बार-बार जाने लगा । इस खिंचाव का नाम है संग । फिर उस विषय में रमणीयता, सुन्दरता, आकर्षण, रस, मिठास, रंजन अनुभव होने लगता है । यही है काम । इसी काम से, गीता कहती है कि, फिर क्रोध उत्पन्न होता है । 'कामात् क्रोधोऽभिजायते ।

यहाँ वास्तविक कठिनाई मालूम होती है । इस जगह विचारकों की फजीहत हुई मालूम होती है । यह प्रश्न विकट हो बैठा है कि फिर काम से क्रोध उत्पन्न होता है । आगे चलकर क्रोध से मोह, मोह से स्मृति-भ्रंश, उससे बुद्धिनाश तक सीढ़ियाँ सीधी मालूम होती हैं, परन्तु यह ठीक से समझ में नहीं आता कि काम में से क्रोध कैसे पैदा होता है ? शंकराचार्य ने भाष्य में "कामात् कुतश्चित् प्रतिहतात् क्रोधः अभिजायते" ऐसा हल निकाला है । वे कहते हैं—काम जब प्रतिहत होता है तो उसमें से क्रोध उत्पन्न होता है, परन्तु यदि ऐसी तरकीब निकाल ली कि जिससे वह प्रतिहत न हो तो फिर काम से क्रोध कैसे पैदा होगा ? इसका यह मतलब हुआ कि काम से क्रोध पैदा होता है, यह वाक्य सदा के लिए सत्य नहीं साबित होगा । काम में यदि कोई रुकावट न पड़ी तो फिर इस वाक्य की इमारत ढहने लगती है । इसलिए गांधीजी ने इसपर एक और रास्ता निकाला है—“काम कभी पूरा होता ही नहीं,” ऐसी टिप्पणी उन्होंने दी है । साधारणतः यह बात ठीक है । सारे संसार का अनुभव अवश्य है कि काम सहसा पूर्ण नहीं होता । वासना बढ़ती ही जाती है, तृप्ति कभी होती ही नहीं । दस हजार मिलें तो लाख की इच्छा होती है । लाख के बाद दस लाख की व फिर करोड़ की इच्छा । गणित की संख्या का अंत नहीं लगता । वासना का भी कोई अन्त नहीं । ययाति का वचन

प्रसिद्ध ही है—“आहुति डाली हुई अग्नि की तरह भोग से काम सदा बढ़ता ही जाता है।” इस कारण गांधीजी की युक्ति वैसे लाजवाब मालूम होती है, परन्तु शंकराचार्य व उनकी तरकीब प्रायः एक-सी मालूम होती है। यदि कामना का अन्त नहीं है तो कहीं-न-कहीं से उसमें बाधा पैदा होगी ही, वह जहां हुई नहीं कि क्रोध पैदा हुए बिना नहीं रहेगा—यह है शंकराचार्य का भाव। काम को गीता में ‘अनल’ कहा है। उसे कभी ‘अलम्’ अर्थात् ‘बस’ होता ही नहीं।

लेकिन इतने पर भी फजीहत से छुटकारा नहीं हो जाता। समझो कि किसी शस्त्र ने बाहरी परिस्थिति को अपनी कामना के अनुकूल

एकनाथ का हल

बना लिया, या कामना को उसके अनुकूल कर लिया तो फिर क्रोध के लिए गुजाइश कहां रही? कामना व परिस्थिति में जिस तरह मेल हो जाने से कामना में बाधा पैदा होने की सम्भावना कम हो गई तो फिर काम में क्रोध पैदा होता है, इस वाक्य में बाधा आई ही न ! इस कठिनाई से एक-नाथ जी ने भागवत में एक और ही तरकीब निकाली है। वे कहते हैं—“काम या तो पूरा होगा या अधूरा रहेगा। अधूरा रहा तो क्रोध पैदा होगा और पूरा हो गया तो लोभ को जन्म देगा। अतः क्रोध शब्द का अर्थ क्रोध व लोभ मिलाकर व्यापक करना चाहिए।” फिर सम्मोह होगा, सो वह या तो क्रोध से होगा या लोभ से। नरक के तीन दर-वाजे बताते हुए गीता ने काम व क्रोध के साथ लोभ को जोड़ा ही है; अनुभूति भी ऐसी ही है कि काम से क्रोध व लोभ पैदा होते हैं।

परन्तु इस समस्या को हल करने का तरीका वास्तव में दूसरा ही है। यहां हमें यह समझना है कि ‘क्रोध’ का एक विशेष अर्थ है।

‘क्रोध’ शब्द से यहां ‘क्षोभ’ विषयों का ध्यान लगने से संग उत्पन्न होता है। ‘संग’ का अर्थ है विषय का

समझना है

साकार रूप ग्रहण करना। फिर वह कान्त, कमनीय लगने से उसे पाने की इच्छा होती है। यह है काम, जिसमें से क्रोध को अवश्यम्भावी कहा है। यह नहीं कहा कि कभी-कभी पैदा होता है। अतः यहां क्षोभ शब्द सामान्य अर्थ में नहीं

आया है। क्रोध का स्थूल व हमारा परिचित अर्थ है गुस्सा, संताप। वह यहां अभीष्ट नहीं, बल्कि चित्त का चलन अथवा क्षोभ है। 'क्रुध्' धातु का मूल अर्थ तौलनिक भाषा-शास्त्र के अनुसार क्षोभ, खलबली ही है। इसके समानार्थक 'कुप्' धातु का तो 'क्षोभ' के अर्थ में संस्कृत में प्रायः सदा ही प्रयोग होता है। काम के उत्पन्न होते ही मन की स्वस्थता डिगने लगती है। मन में अप्रसन्नता उत्पन्न होती है। काम की पूर्ति चाहे हो या न हो, उसके उत्पन्न होते ही चित्त की समता चली जाती है।

इसके उलटे तरह से जो परम्परा अन्वय-पद्धति से बताई गई है उससे भी यही अर्थ निकलता है। फिर आगे यह कहा गया है कि जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है, उसे क्रोध का अर्थ है क्षोभ, अर्थात् प्रसन्नता प्राप्त होती है। इससे यह मालूम चित्त की अप्रसन्नता होता है कि यहां क्रोध शब्द प्रसन्नता

के उलटे अर्थ में आया है। काम कहते हैं मन की इस छटपटाहट को कि मुझे फलां चीज चाहिए और यही अप्रसन्नता है। जबतक वह विषय प्राप्त नहीं हो जाता तबतक मैं पूर्ण नहीं हूँ, उसके बगैर मुझमें कमी है। ऐसी हीन भावना मूल में रहती है। यही कारण है जो कामना से मन मलिन होता है। उसकी निर्मलता चली जाती है। संस्कृत में तो प्रसन्न शब्द निर्मल के अर्थ में बरना भी जाता है। साफ पानी को 'प्रसन्नम् जलम्' कहते हैं, जैसे सिंहगढ़ की देवटंकी का पानी। ऊपर से जब कंकड़ डालते हैं तो ठेठ नीचे तह में पहुंचने तक उसकी सारी यात्रा साफ-साफ दिखाई देती है। प्रसन्नता का अर्थ है ऐसी निर्मलता व पारदर्शकता। वाल्मीकि जिस तीर्थ में स्थान के लिए गये थे उसके विषय में कहा है—“अकर्दमम् इदम् सज्जनानां मनो यथा।” सज्जनों का चित्त सब तरह से खुला, निर्मल और प्रकट होता है। जैसा कि ज्ञानदेव ने कहा है—‘कोना कचरा न वह जाने।’ वह अकर्दम होता है। ‘कर्दम’ कहते हैं मल को। मल होता है पानी के बाहर की वस्तु। उसका रंग जहां पानी पर चढ़ा कि वह मटमैला हुआ; पानी जब असल की तरह बे-रंग होता है तो प्रसन्न रहता है। इसी तरह

आत्मा जब अपने मूल स्वरूप में रहता है तो प्रसन्न रहता है। उसे बाहरी वस्तु की इच्छा होना, उसका रंग उसपर चढ़ने लगना उसका मैलापन है। यही अप्रसन्नता है। बाह्य कामना जहां आई कि मिला-वट हुई। तब कामना का महत्त्व आत्मा को मालूम होने लगता है। उसके सामने वह स्वयं गौण हो जाता है, फीका पड़ जाता है। उसका मन चलित होने लगता है, अशांति, व्याकुलता मालूम होने लगती है, क्षोभ होता है। इसी को यहां 'क्रोध' कहा है। कामना से चित्त में जो स्पन्दन होता है वही यहां 'क्रोध' शब्द से सूचित किया गया है। आत्मा का मूल रूप प्रशान्त व निःस्पंद होता है। रात के नीरव, निरभ्र, और तारकित आकाश की तरह। अनन्त शुभ गुण ही मानो यहां के अनन्त तारे हैं !

आत्मा के परिपूर्ण और अनन्तगुणी होते हुए भी मनुष्य बाह्य वस्तु के लिए क्यों छटपटाता है ? बाहर की इष्ट-प्राप्ति व अनिष्ट-

कामना से चित्त-क्षोभ
क्यों होता है ?

परिहार की झंझट में वह पड़ता क्यों है ?

इसका कारण यह है कि मनुष्य के चित्त को आत्मा का दर्शन नहीं होता। केवल

बहिर् दर्शन होता है। बाहरी सृष्टि का सौन्दर्य उसे लुभाता है। असौंदर्य त्रास देता है। वस्तुतः सौंदर्य अथवा असौंदर्य बाह्य वस्तु में नहीं है। वहां तो आकार-मात्र है। तद्विषयक अनुकूल-प्रतिकूल वृत्ति मुख्यतः चित्त की करनी है। चित्त इन्द्रियाधीन है। गधे की आवाज हमारे कानों को कर्कश मालूम होती है, इससे चित्त भी उसे कर्कश समझता है, परन्तु वास्तव में वह न तो मधुर है, न कर्कश। वह जैसी है, वैसी है। हमारे कानों को यद्यपि वह बुरी लगती है तो तो भी गधे के कानों को आनन्ददायी ही मालूम होती होगी। मुझे संगीत का शौक है, परन्तु जब मैं यह विचार करने लगता हूं कि यह आवाज मधुर व यह कर्कश है तब क्या मैं वास्तव में आवाज पर ही अपनी तरफ से आरोप नहीं कर रहा हूं ? मैं यह नहीं कहता कि खुद आवाज मिथ्या है, नहीं तो कोई मार्क्सवादी मेरे पीछे पड़ जायगा और कहेगा—“क्या इस सारी सृष्टि को ही कल्पना-प्रसूत कहते हो ?” लेकिन यह मेरा कहना

नहीं है। सृष्टि सच्ची ही है। वह मैंने अपनी कल्पना से नहीं बनाई है, इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि वह ईश्वर की बनाई हुई है; परन्तु उसके सम्बन्ध में जो कल्पना या खयाल है, वह मेरा है, अर्थात् मेरे इन्द्रियाधीन चित्त का है। इस तरह मैं सृष्टि के भिन्न-भिन्न पदार्थों के विषय में अनुकूल या प्रतिकूल वृत्ति बनाता हूँ। वह क्षोभ का कारण होती है। जब यह बात समझ में आ जायगी कि आत्मा परिपूर्ण है तो मनुष्य का चित्त सन्तुष्ट व प्रसन्न होगा। उसे किसी भी प्रकार की कमी न खटकेगी। वह कहेगा, “मैं बाह्य वस्तु के पीछे पड़कर, उसके लिए व्याकुल होकर, परतन्त्र क्यों बनूँ? वह वस्तु क्यों नहीं मेरी अभिलाषा करती? मैं ही क्यों उसके लिए व्याकुल होकर अपने चित्त को खराब करूँ? वह अपनी ऐंठ में चूर है तो मैं क्यों अपनी ऐंठ में चूर न रहूँ?” बाह्य वस्तु की अभिलाषा करते रहने से आत्मान्यूनता को प्राप्त होता है और इससे चित्त क्षुब्ध होता है। चित्त की इस क्षुब्धता को ही यहां क्रोध कहा है।

क्रोधात् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

२

क्रोध से मन मूढ़ हो जाता है—“क्रोधात् भवति सम्मोहः।” बचपन में मैं कहा करता था—“भरपेट गुस्सा होकर भी मेरी बुद्धि ज्यों-की-त्यों सावित रहती है।” क्रोध से बुद्धि की समता नष्ट होती है, इसका भी होश नहीं रहता, यही इस बात का लक्षण है कि बुद्धि ठिकाने नहीं है। मोह का अर्थ यह नहीं है कि बुद्धि की सारी ही शक्ति नष्ट हो जाय। बुद्धि की प्रखरता का चला जाना व उसका भोथरा पड़ जाना ही मूढ़ता का अर्थ है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का कर्तव्य-निर्णय गड़बड़ में पड़ जाता है, यही सम्मोह है।

इस तरह सम्मोह होने पर स्मृति-भ्रंश होता है। स्मृति-भ्रंश का

अर्थ मामूली विस्मृति नहीं, बल्कि इस बात का विस्मरण कि 'मैं कौन हूँ' स्मृतिभ्रंश है। बहुत-सी बातों मोह से स्मृति-भ्रंश होता है, का याद रहना 'स्मृति' नहीं है। मैं जो-अर्थात् यह होश नहीं रहता कुछ बोलता हूँ उसे अक्षरशः ज्यों-का-त्यों कि हम कौन हैं किसी ने दुहराकर बता दिया तो उसे मैं जड़यन्त्र कहूंगा। जो भूल जाने लायक है उसे भूलने की व जो याद रखने लायक है उसे याद रखने की विवेक-शक्ति उसके पास नहीं है। सच्ची स्मृति में यह विवेक गृहीत है। सब बातों को याद रख-कर उसका बोझ वह क्यों उठावे? विवेक का उपयोग करके कुछ रख लेना चाहिए व कुछ छोड़ देना चाहिए। उचित स्मरण व उचित विस्मरण मिलाकर सम्यक् स्मरण-शक्ति होती है। अतः यहां पर स्मृति का अर्थ है—मैं कौन हूँ, इसका निरन्तर भान, आत्मा का निरन्तर भान।

मनुष्य बार-बार आत्मा को भूलता रहता है। खेल के मैदान में जाकर वह कहता है, मैं खिलाड़ी हूँ। लड़ाई के मैदान में कहता है, मैं योद्धा हूँ। लड़के को देखते ही कहता है, मैं बाप हूँ। वह सदा भूल जाता है कि मैं तो केवल, रंगरहित उपाधिर्वर्जित, परिशुद्ध आत्मा हूँ। जिस परिस्थिति में जाता है, उसी रंग का हो जाता है। इसे कहेंगे स्मृति-भ्रंश। यों व्यवहार में भी हम स्मृति-भ्रंश का यही लक्षण मानते हैं। जब कोई मनुष्य अपने होश-हवास भूलकर अंट-शंट बड़बड़ाने लगता है तो हम कहते हैं, इसका दिमाग ठिकाने नहीं रहा, इसे भ्रम हो गया है। यही स्मृति-भ्रंश है। नदियां कितनी ही उमड़-उमड़कर व बढ़-बढ़कर समुद्र में जाकर गिरें तो भी समुद्र शान्त ही रहता है; उनके सूख जाने पर भी वह सूखता या घटता नहीं। अपनी गम्भीरता व शान्ति छोड़कर वह यदि नदियों के पीछे दौड़ने लगे तो उसे हम क्या कहेंगे? यही कहेंगे न कि समुद्र अपने-आपको भूल गया? यही बात हमारी है। मैं सारी सृष्टि का साक्षी हूँ। वह चाहे तो भले ही मेरे पीछे लगे।

'भान नहीं', इसका
अर्थ क्या?

मैं नहीं उसके चक्कर में पड़ूंगा ! मैं परिपूर्ण हूं, मुझे किसी बात की कमी नहीं—यह भान ही स्मृति है। परिपूर्ण होते हुए भी अपूर्णता का भास होना स्मृतिभ्रंश है। स्वप्न में किसी राजा को दिखाई दिया कि मैं भीख मांग रहा हूं तो हम कहेंगे कि वह अपना राजापन भूल गया। वैसी ही यह दशा है।

इस तरह जब मनुष्य अपने होश-हवास खो बैठता है तो उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। अर्थात् वह विषयाधीन हो जाती है। बुद्धि

जब विषयाधीन या निषयनिष्ठ हो जाती है तो वह अपनी मूल स्थिति खो बैठती है। बुद्धि की मूल-स्थिति का नष्ट होना

ही बुद्धिनाश कहलाता है। मनुष्य जब अपने स्वरूप को भूल जाता है तो उसकी बुद्धि अपने मूल स्थान से भ्रष्ट हो जाती है। 'स्मृति-भ्रंशात् बुद्धिनाशः'। बुद्धि के मानी हैं ज्ञान-शक्ति। आत्मा को जानने का सामर्थ्य उसीमें है। उस बुद्धि का उपयोग साधारण विषय-रस की विचिकित्सा में करना मानो उसका अधिकार ही छीन लेना है। मां ने अपने बच्चे की उंगली में सोने की अंगूठी पहना दी। वह जाकर उसे दो पेड़ों के लिए हलवाई की दूकान पर बेच आया। वैसी ही बात यह हुई। बुद्धि एक सर्वकान्तिमय, सर्वप्रभावती शक्ति है। विचार के बराबर प्रभा, विचार के समान तेज दूसरी किसी भी वस्तु में नहीं। ऐसी विचारसमर्थ बुद्धि को ऐसे विषयों में खर्च करना मानो उसका नाश ही करना है। आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेना बुद्धि का खास सामर्थ्य है; किन्तु जब बुद्धि विषय-निष्ठ हो जाती है तो वह उस सामर्थ्य से हाथ धो बैठती है। यह उसका नाश नहीं तो क्या है? जिस बुद्धि ने आत्मनिष्ठता खो दी है वह यों चाहे कितनी ही सतेज क्यों न दिखाई दे, वास्तव में यही समझना चाहिए कि उसने अपना नाश कर लिया है।

आठवां व्याख्यान

१

इन्द्रिय-निरोध का प्रज्ञा से क्या सम्बन्ध है, यह बात 'न'-कार से वह 'ह'-कार से, 'व्यतिरेक' से व 'अन्वय' से समझा रहे हैं। विषय-पिछले विवेचन का सार : चिन्तन से लेकर बुद्धि-नाश तक की बुद्धि-नाश ही विनाश की परम्परा व्यतिरेक द्वारा बताई। इसका अन्तिम सीढ़ी सिलमिला ठेठ बुद्धि-नाश तक जा पहुँचता है। इसके विपरीत, अन्वय-परम्परा दिख-

लाते हुए यह बतायेंगे कि बुद्धि की स्थिरता यह आखिरी मंजिल है। उधर आखिरी सीढ़ी है बुद्धि की स्थिरता, इधर अन्तिम है बुद्धि का नाश। आगे जो 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' कहा गया है वह इसलिए नहीं कि बुद्धिनाश के बाद अब और कोई सीढ़ी दिखाना बाकी रह गया है; बल्कि वह वाक्य तो बुद्धिनाश की भयंकरता दिखाने के लिए ही कहा गया है। बुद्धि गई तो सबकुछ चला गया। उमे आत्म-नाश ही कहिये न। अब और कुछ नष्ट होना बाकी नहीं रहा है—यह उसका अर्थ है। इसका खुलासा आगे हो जायगा।

हमने इस श्लोक के सभी पदों का सूक्ष्म अर्थ किया है। इसके बजाय यदि स्थूल अर्थ ही ले लें तो मनुष्य का समाधान बहुत थोड़े में हो जायगा। थोड़े में ही वह अपनेको गीता को शब्दों के सूक्ष्म 'स्थितप्रज्ञ' हुआ समझने लगेगा। उपनिषद् अर्थ ही अभिप्रेत हैं के एक समानार्थक वचन से भी यही जाना जा सकता है कि गीता के मन में स्थूल नहीं, बल्कि सूक्ष्म अर्थ ही समायो हुआ है। वह वचन यह है—“आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृतिलाभे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।” इसका

अर्थ—‘आहार शुद्ध होने से चित्त की शुद्धि होती है, उससे अविचल स्मृति-लाभ होता है। स्मृति-लाभ से मनुष्य के चित्त की सब गांठें खुल जाती हैं।’ यहां आहार शब्द का अर्थ सिर्फ ‘अन्न’ ही नहीं, बल्कि सभी इन्द्रियों का आहार लेना चाहिए। गीता के ‘निराहार’ शब्द का भी हमने ऐसा ही अर्थ किया है। पहले हमने भक्ति-मार्ग की जो विशुद्ध प्रक्रिया देखी है, सो यही है। अशुद्ध आहार को छोड़कर सब इन्द्रियों को शुद्ध आहार कराते जायं तो उससे चित्त की या बुद्धि की शुद्धि होती है। ऐसा होने से ‘ध्रुवा स्मृति’ प्राप्त होती है, अपना भान स्थिर रहता है और फिर चित्त की सब गांठें खुल जाती हैं। हमारे मन में भिन्न-भिन्न विचार-संस्कार की ग्रन्थियां या गांठें होती हैं। इन्हें अंग्रेजी में ‘काम्प्लेक्स’ कहते हैं। बुद्धि शुद्ध होने का अर्थ है इन सब गांठों का खुल जाना। इन गांठों के खुल जाने पर बुद्धि मुक्त, स्वतन्त्र हो जाती है। आईने की तरह साफ़ हो जाती है और फिर उसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब झलकने लगता है।

इतना सारा कार्य यहां ‘स्मृति-लाभ’ से अपेक्षित है। अतः ‘स्मृति’ शब्द का अर्थ यहां साधारण ‘स्मरण-शक्ति’ नहीं कर सकते।

स्मृति बनाम स्मरण-

शक्ति

मामूली स्मरणशक्ति वह है जिसे अंग्रेजी में ‘मेमरी’ कहते हैं और तर्कशक्ति के साथ जिसके विकास का प्रयत्न पाठशालाओं में किया जाता है। व्यवहार में मनुष्य का भुलक्कड़पन नहीं चल सकता। उसकी याददास्त पक्की होनी चाहिए। तमोगुण में लीन मनुष्य भुलक्कड़ हो जाता है, इससे वह व्यवहार में कुशल नहीं होता। इतना तमोगुण न हो तो वह व्यवहारोपयोगी स्मरण रख सकता है। इतना ही उस स्मरण-शक्ति का कार्य है; परन्तु इस स्मरण-शक्ति से हृदय-ग्रन्थि खोलने की अपेक्षा कोई भी नहीं रखेगा। उपनिषद् और गीता ने जिस स्मृति का उल्लेख किया है वह शक्ति नहीं, बल्कि चित्त की एक अवस्था है। आत्मा का नित्य स्मरण रहना उसका स्वरूप है। जब आत्मा का नित्य स्मरण रहेगा तो फिर दूसरे संस्कार हमारे चित्त पर चाहे कितना ही जोर का हमला करें उनका

सिक्का उसपर नहीं जम सकता। उन संस्कारों के हमलों का मुकाबला करने के लिए जो बुद्धि आत्म-स्मृतिरूपी ढाल को लिये सतत तैयार रहती है, उसे आत्म-दर्शन होना बिलकुल निश्चित है।

इसके विपरीत जहां आत्म-विस्मृति है उसके चित्त पर बाहरी संस्कारों के ठप्पे पड़ जाते हैं। छोटे बच्चे के मन पर कोई भी संस्कार

आत्म-स्मृति के अभाव में तुरन्त जम जाता है। हम कहते हैं, छोटे बच्चे का मन एकदम स्वच्छ होता है, सुकोमल होता है। किसी भी संस्कार को

वह तुरन्त ग्रहण कर लेता है। परन्तु इसका कारण यह भी है कि छोटे बच्चे में आत्मविस्मृति पूर्णरूप से होती है। इससे बाहर की प्रत्येक बात उसके चित्त पर अंकित हो जाती है और हम उस चित्त को संस्कारार्ह, संस्कार-सुलभ कहकर उसकी स्तुति करते हैं; परन्तु संस्कार यदि अच्छे होंगे तो वह अच्छा बनेगा, बुरे होंगे तो बुरा बनेगा। जैसे संस्कार होंगे, वैसे ही उसपर अंकित होंगे। इस दृष्टि से संस्कार-सुलभता को चित्त की भयानक दशा भी कहना होगा। जब यह कहा जाता है कि ज्ञानी का मन छोटे बच्चे की तरह होता है तब उसका अर्थ यह नहीं होता कि वह संस्कार-सुलभ है; बल्कि यह होता है कि वह बच्चे के हृदय की तरह अकृत्रिम, निर्दम्भ, खुला और सहज होता है। हृदय में जब आत्म-स्मृति का अखण्ड जाग्रत पहरा होता है तब उसे दूसरे संस्कारों का भय नहीं रहता। ऐसा व्यक्ति यदि चौराहे पर जाकर बैठ जाय, तो भी वह अपनी जगह पर स्थित है। उसे कहीं भी डर नहीं रहता। वह रक्षण से परे हो गया है। आत्म-स्मृति के निरन्तर जाग्रत रहने से उसे अपने लिए बचाव की या बाड़ की जरूरत ही नहीं। नीति-शास्त्र के नियमों की बाड़ साधारण चित्त की रक्षा के लिए जरूरी होती है, वह स्थिति यहां नहीं है। जब आत्म-विस्मृति हो जाती है तो फिर बुद्धि बाहर के प्रहारों की पात्र बन जाती है। इससे उसे बाहर के कृत्रिम संरक्षण की जरूरत महसूस होती है। परन्तु आत्म-स्मृति के अभाव में वे सब संरक्षण निरर्थक, बेकार भी साबित हो सकते हैं।

यहां 'स्मृति' शब्द का अर्थ आत्म-स्मृति करना ही उचित है। इसके लिए और भी एक प्रमाण दिया जा सकता है। यहां सम्मोह से स्मृति-भ्रंश और स्मृति-भ्रंश से बुद्धि-नाश ऐसी परम्परा बताई गई है। अब यदि इसकी विपरीत परम्परा ठीक-ठीक लगाई जाय तो वह कैसी बनेगी ? इसका चित्र सामने खड़ा

गीता-श्रवण का फलित
मोह-नाश और तज्जन्य
स्मृति-लाभ

होने पर इन शब्दों के अर्थ पर प्रकाश पड़ जायगा। इसकी उलटी परम्परा होगी—मोह-नाश होने से स्मृति-लाभ और स्मृति-लाभ से बुद्धि का सन्देह नष्ट होकर उसका स्थिर होना। गीता-श्रवण के अन्त में अर्जुन ने उस समय की अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए बिल-कुल इन्हीं शब्दों में वह सिलसिला दिखाया है। वह कहता है—“नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्ध्वा.....स्थितोऽस्मि गतसन्देहः !”—गीता-श्रवण से मेरा मोह चला गया, मुझे स्मृति-लाभ हुआ, मेरा सब सन्देह चला गया। अब यह देखने से कि अर्जुन को किस प्रकार का सन्देह हुआ था, 'मोह' शब्द का और उसके साथ ही 'स्मृति' शब्द का भी अर्थ समझ में आ जायगा।

ऐसा दिखाई पड़ता है कि अर्जुन को अपने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के सम्बन्ध में मोह पैदा हो गया था। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि

'मोहनाश' का अर्थ है,
कर्त्तव्य का खुलासा

यहां 'मोह' का अर्थ कर्त्तव्य-मोह ही करना चाहिए। यह मोह अर्जुन को किस कारण से हुआ ? इस युद्ध में मुझे सब अपने ही लोगों को मारना पड़ेगा—इस खयाल से उसका मन भौचक्का हो गया। उसके चित्त की व्यवस्थिति, स्वस्थता, नष्ट हो गई। उसमें हलचल खड़ी हो गई। 'ये मेरे' व 'ये पराये' इस विचार से उसका मन क्षुब्ध हो गया। जब किसी कच्चे दिल के न्यायाधीश के सामने खुद उसीका लड़का मुल्जिम बनाकर पेश किया जाता है तो उसके मन में यह भावना पैदा होने लगती है कि मेरा बेटा बच जाय तो अच्छा। अपने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विषय में उसका मन शंकाशील या डांवाडोल हो जाता है। वह झूलने लगता है। वह अनेकधा

होने लगता है। यह सूझ नहीं पड़ता कि क्या करे? ऐसी स्थिति अर्जुन की हो गई थी। अर्जुन ने गीता के प्रारम्भ में अपने सम्बन्ध में ऐसा ही कहा है—“पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः” मेरी बुद्धि सम्मोह से ग्रस्त हो गई है। मुझे अब सूझ नहीं पड़ता कि क्या करूं? इसलिए मैं आपकी शरण आया हूं। इससे यह सिद्ध होता है कि अर्जुन को अपने कर्त्तव्य के सम्बन्ध में मोह हो गया था। यही गीता की मूल भूमिका है। अतः यह स्पष्ट है कि उसमें मोह का जो अर्थ है वही यहां स्थित-प्रज्ञ के प्रकरण में भी ग्रहण करना चाहिए।

जब इस बात का विचार करते हैं कि अर्जुन को मोह कैसे पैदा हुआ तो इसी सिलसिले में यह बात भी याद रखने लायक है कि इससे ‘क्रोध’ शब्द के अर्थ का भी स्पष्टीकरण हो जाता है। इसी सिलसिले में क्रोध के अर्थ के विषय में विचार अर्जुन को मोह तो जरूर हुआ, पर उसे स्थूल अर्थ में ‘क्रोध’ नहीं आ गया था। वह गुस्सा नहीं हो गया था, सन्तप्त नहीं हो गया था। ये मेरे ही अपने लोग मुझसे लड़ने के लिए तैयार खड़े हैं, इस बात पर एक विषाद हुआ और फिर उसमें से उसका कर्त्तव्य-मोह उत्पन्न हुआ। परन्तु गीता कहती है कि क्रोध से मोह पैदा होता है। अर्थात् गीता की दृष्टि में विषाद और क्रोध पर्यायवाची ही मालूम होते हैं। यह विषाद शब्द ध्यान देने जैसा है। प्रसन्नतासूचक तीन अक्षरी ‘प्र-सा-द’ शब्द से बिलकुल उलटे अर्थवाला तीन अक्षरी ‘वि-पा-द’ शब्द है। और क्रोध का भी स्वरूप हम ऐसा ही प्रसन्नता-विरोधी देख चुके हैं। इस अर्थ में क्रोध व विषाद दोनों शब्द क्षोभसूचक सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार के क्षोभ से अर्जुन के मन में कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विषय में मोह उत्पन्न हुआ और अर्जुन कहता है कि ईश्वर की कृपा से गीता-श्रवण का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ जिससे मेरा मोह नष्ट हो गया। फिर मोह के चले जाने से मुझे स्मृति-लाभ हुआ और मेरे सारे सन्देह चले गये—इस तरह ठेठ उपनिषदों की भाषा में उसने भरोसा दिलाया है।

‘स्थितोऽस्मि गतसंदेहः’
अर्थात् मैं स्थितप्रज्ञ
हो गया

इससे स्मृति शब्द के अर्थ पर साफ प्रकाश पड़ जाता है। 'मेरे सब सन्देह छिन्न हो गये' इसका अर्थ ऐसा ही लेना चाहिए कि बुद्धि की मेरी सब गांठें खुल गई, बुद्धि स्थिर हो गई, मैं स्थित-प्रज्ञ हो गया। ऐतिहासिक अर्जुन के चक्कर में पड़कर हमें इन वचनों का अर्थ गौण समझना ठीक न होगा। उचित तो यही है कि हम किसी भी व्यक्ति का विचार न करते हुए शब्दों का यथाश्रुत सूक्ष्म अर्थ ग्रहण करें। मनुष्य की बुद्धि में ऐसा सहज गुण है कि वह ठेठ जड़ तक जाकर शब्द का सूक्ष्म, अन्तिम व व्यक्ति-निरपेक्ष अर्थ ले सकती है और उसीमें मानव का श्रेय है। अर्जुन के 'स्थितोऽस्मि' ये शब्द भी सूचक हैं। 'स्थिति' शब्द से 'स्थितप्रज्ञ' की याद आ ही जानी चाहिए।

२

परन्तु यदि हम शब्दों के ऐसे सूक्ष्म ही अर्थ करेंगे तो जन-साधारण के लिए वे उतने उपयोगी न हो सकेंगे। अच्छा, यदि हम अपनी व्योंत का ही मर्यादित अर्थ करें तो पहले बताये अनुसार थोड़े में संतोष पाने लगेंगे, जिससे आगे की प्रगति ही रुक जायगी। अतः जरूरत के माफिक दोनों तरह के अर्थ ग्रहण करने चाहिए। नारद ने भक्ति-सूत्रों में इन शब्दों के स्थूल अर्थ किये हैं। उनके सूत्र हैं—“दुःसंगः सर्वथैव त्याज्यः। काम-क्रोध-मोह-स्मृतिभ्रंश-बुद्धिनाश-सर्वनाश-कारणत्वात्। तरंगायिता अपीमे संग्तात् समुद्रायन्ति।” इसका अर्थ है—“कुसंगति को सब तरह से छोड़ना चाहिए; क्योंकि उससे काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, इस परम्परा से बुद्धिनाश व सर्वनाश हो जाता है। मनुष्य के मन में ये विचार असल में तरंग की तरह अल्प हों तब भी वे कुसंग से समुद्र की तरह विशाल हो उठते हैं।” नारद के इन सूत्रों के अनुसार इन श्लोकों का सबको अपनी-अपनी भूमिका देखकर लेकिन प्रगतिशील अर्थ यथासम्भव कर लेना चाहिए।

इन दो श्लोकों का थोड़ा और पृथक्करण कर लेना ठीक होगा। पहले श्लोक में 'ध्यायतो विषयान् पुंसः' से शुरुआत करके 'कामात् क्रोधो-
 बुद्धिनाश-परंपरा के विभा- अभिजायते' यहां खतम किया है। अगले श्लोकों में 'क्रोधात् भवति सम्मोहः' से लेकर बुद्धि-
 जन का रहस्य : पहले मन नाश तक का भाग बताया है। यह ऐसा विभा-
 पर, फिर बुद्धि पर आक्रमण जन क्यों किया ? इसमें कोई योजना तो नहीं है ? मनुष्य के चित्त के दो भाग हैं—मन और बुद्धि। पहले श्लोक में यह बताया गया कि विषयचिन्तन के फलस्वरूप मन पर उसका कैसा आक्रमण होता है। दूसरे श्लोक में इस बात का निरूपण किया गया है कि बुद्धि पर उसका प्रहार किस रूप में होता है। पहले-पहल विषयों का प्रहार मन पर होता है, सीधा बुद्धि पर नहीं। इससे मन के विकारयुक्त हो जाने पर भी बुद्धि सही-सलामत रहती है, ऐसा भास हो सकता है; परन्तु वह अधिक समय तक नहीं टिक सकेगा। अतः समय रहते ही सावधान होकर मन पर हमला होते ही उसे खदेड़ देना चाहिए। यों देखा जाय तो पहला धावा इन्द्रियों पर ही होता है; वह विषयों का पहला किला है। वहीं से उनका हमला लौटा देना चाहिए। आगे चलकर तीसरे अध्याय में इसका अधिक विवेचन किया गया है—
 'इन्द्रियाणि मनोबुद्धिः अस्याधिष्ठानमुच्यते।' इन्द्रियां, मन व बुद्धि ये कामना के आश्रय-रूप तीन किले हैं। इन्द्रियां सबसे बाहरी किला है। इसलिए लड़ाई का आरम्भ इन्द्रियों से ही करना पड़ता है। यह हम पहले ही देव चुके हैं।

नवां व्याख्यान

१

विषय-चिन्तन से शुरू होनेवाली बुद्धि-नाश की परम्परा खतम हो गई। अब अगले दो श्लोकों में इससे उलटी परम्परा बनाते हैं। बुद्धि-नाश की इस परम्परा से हमको यह स्थिर बुद्धि की परम्परा का आरम्भ : राग-द्वेष छोड़कर इन्द्रियों का उपयोग करनेवाला प्रसाद पाता है शिक्षा मिली कि इंद्रिय-जय का अर्थ स्थूल व सूक्ष्म दोनों रूप में ग्रहण करना चाहिए। तभी बुद्धि की रक्षा होगी। तो यहां यह प्रश्न खड़ा होगा कि फिर क्या आत्मज्ञानी पुरुष अपनी इंद्रियों के तमाम व्यापार ही बन्द कर दे ? इसी प्रश्न का उत्तर अब आगे दिया जाता है।

रागद्वेष-वियुक्तेस्तु विषयान् इन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवश्यैर् विधेयात्मा प्रसादं अधिगच्छति ॥

अर्थात्—“विषयों के प्रति वैराग्य स्थिर हो जाने पर इन्द्रियां हमारे अधीन हो जाती हैं। इन स्वाधीन इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करनेवाला पुरुष प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता पाता है।” इसका आशय यह है कि ज्ञानी मनुष्य ही निर्भयता से इन्द्रिय-व्यवहार कर सकता है। जिनकी सत्ता इन्द्रियों पर नहीं चलती, उनके लिए खतरा है। जिनको भय है उन्हें निर्भय की तरह हर्गिज नहीं विचरना चाहिए। इन्द्रियों के व्यापार करते हुए राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। यह खतरा जिसने हटा दिया वह व्यक्ति इन्द्रियों के सभी उचित व्यापार करेगा; बल्कि उसकी दृष्टि में तो सभी व्यवहार आध्यात्मिक ही हो जायेंगे। इतना ध्यान जरूर रखना चाहिए कि इन्द्रियों को अपनी खुराक देते हुए राग-द्वेष उत्पन्न न हों। प्रसन्नता-प्राप्ति के लिए इन्द्रिय-जय आवश्यक है;

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम इन्द्रियों से कुछ काम ही न लें। इन्द्रियों से यदि कोई काम ही न लेना हो तो फिर इन्द्रिय-जय की जरूरत भी नहीं रहेगी। असल बात यह है कि हम इन्द्रियों के अधीन न हों। चाकू इस्तेमाल करना और चाकू के अधीन होना, दोनों में फर्क है। चाकू से पेंसिल छीलना चाकू इस्तेमाल करना है। उंगली पर चलाकर हाथ ही छील लेना चाकू के अधीन हो जाना है। इन्द्रियों का उपयोग भगवान् की सेवा में करना चाकू से पेंसिल छीलने-जैसा है; परन्तु उनके वश में होकर बुद्धि-नाश कर लेना चाकू से उंगली काट लेना है।

बुद्धि-नाश की परम्परा जैसी तफसील से बताई है, वैसी उलटी परम्परा सविस्तर नहीं बताई है। एक परम्परा यदि व्यवस्थित रूप से बता दी गई है, तो उसमें दूसरी अपने-आप आ जाती है। फिर परम्परा की सारी सीढ़ियाँ एक-सा महत्त्व नहीं रखतीं और आदि, मध्य, अन्त अथवा शास्त्रीय भाषा में कहें तो बीज, शक्ति और फलित—इन तीन सीढ़ियों को याद रखें तो काफी है। विषय-चिन्तन बीज है। उससे अप्रसन्नता या चित्त-चलन (मैं 'क्रोध' शब्द को छोड़ ही देता हूँ) यह शक्ति हुई और बुद्धि-नाश हुआ फलित। इसके विपरीत क्रम में, विषयों से राग-द्वेष उत्पन्न न होने देना बीज, प्रसन्नता शक्ति और बुद्धि की स्थिरता यह फलित हुआ। तीन मुख्य सीढ़ियाँ बता दी गई हैं। उनके आधार पर परिपूर्ण परम्परा बिठाई जा सकती है।

‘प्रसाद’ शब्द के अर्थ पर बहुत-कुछ विचार किया, फिर भी वह कुल मिलाकर गलतफहमी बढ़ानेवाला हो गया है। उसका अर्थ ‘प्रसन्नता’ करने से भी गलतफहमी दूर नहीं होती। प्रसन्नता का अर्थ आजकल उल्लास, आनन्द किया जाता है; परन्तु दरअसल प्रसाद अथवा प्रसन्नता का अर्थ उल्लसित वृत्ति या हर्ष नहीं है। प्रसाद का अर्थ है न विषाद और न हर्ष ही। परन्तु लोग उसका अर्थ

प्रसाद शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में गलतफहमी

प्रायः हर्ष ही कहते हैं। तुलसीदासजी ने श्री रामचन्द्रजी की मुख-श्री का वर्णन करते हुए कहा है—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतः
तथा न मल्ले वनवासदुःखतः ।
मुखाम्बुज-श्री रघुनन्दनस्य मे
सदास्तु सा मंजुल-मंगल-प्रदा ।

“राज्याभिषेक की बात सुनकर जिसपर प्रसन्नता नहीं छिटकी और वनवास का कष्ट सामने खड़ा होते हुए भी जिसपर विषाद की छाया नहीं पड़ी, वह राम की मुख-कान्ति हमारा नित्य मंगल करे।” यह साफ है कि यहां तुलसीदासजी ने ‘प्रसन्नता’ शब्द का अर्थ, जैसा कि रूढ़ था, वैसा ही किया है; परन्तु भाषा की शास्त्रीयता के लिए मैं तुलसीदासजी में सिफारिश करूंगा कि वे ‘प्रसन्नतां या न गता’ की जगह ‘प्रहृष्टतां या न गता’ का प्रयोग करें। श्रीराम की मुख-मुद्रा हर्ष-विषाद-रहित थी, यही वह कहना चाहते हैं। इसीका नाम है प्रसन्नता।

प्रसन्नता का अर्थ है निर्विकारता, शान्ति, गांभीर्य। ‘गांभीर्य’ शब्द से डर लगता हो तो उसे छोड़ दीजिये। ‘प्रसन्नता’ से तो डरने की जरूरत हुई नहीं। प्रसन्नता का मतलब है—राग-द्वेष-रहितता, स्वच्छता, निर्मलता। उसका लक्षण ऐसा भी किया जा सकता है—‘जिसके दर्शन-मात्र से दुःख शमन होता है वह है प्रसन्नता।’ किसीका लड़का मर गया। इससे उसका जी एकदम उदास हो गया। कहीं भी मन नहीं लगता। वह एक झरने के किनारे जाकर बैठ गया। मन कुछ लगा—शान्त हुआ। यह गुण उस झरने की निर्मलता का है। निर्मलता स्वयं-प्रचारक है। उसका प्रभाव सहज ही पड़ता है। उसका दर्शन होने से वह अवश्य आनन्द उपजाती है। ‘प्रसन्नता’ का अर्थ व्यक्त करने के लिए भाष्यकार ने ‘स्वास्थ्य’ शब्द का प्रयोग किया है, वह ठीक है। ‘स्वास्थ्य’ में शरीरिक व मानसिक दोनों प्रकार के आरोग्य का समावेश हो जाता है। वैद्य-

शास्त्र के अनुसार शारीरिक स्वास्थ्य का अर्थ है—शरीर में धातुसाम्य रहना और मानसिक आरोग्य का अर्थ है चित्त की समता रहना, मानसिक शान्ति रहना । इस तरह दोनों अर्थों का संग्राहक यह 'स्वास्थ्य' शब्द 'प्रसन्नता' का ठीक पर्याय माना जा सकता है ।

‘प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।’

इन्द्रिय-जय द्वारा प्राप्त प्रसन्नता से सब दुःख बिलकुल ही मिट जाते हैं । गीता ने प्रसन्नता की ऐसी विशेषता बताई है । दूसरे सुख-साधनों से तो बाज-ही-बाज दुःख दूर होते हैं और सो भी थोड़े समय के लिए । भोजन के लिए मिट जाते हैं, क्योंकि दुःख-मात्र मनोमल का परिणाम है ।

इस तरह भिन्न-भिन्न दुःखों को दूर करने के लिए भिन्न-भिन्न सुख-साधनों का सतत प्रयोग करते रहना पड़ता है; परन्तु प्रसन्नता से सभी दुःख मिट जाते हैं, क्योंकि जहां से दुःख पैदा होता है वहीं प्रसन्नता अपना डेरा डाले रहती है । विज्ञान द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो चुका है कि यदि दुःख की संवेदना मस्तिष्क तक न पहुंचे तो दुःख का अनुभव नहीं होता । इसी तरह जिसके चित्त में प्रसन्नता का झरना बहता है, दुःख उसके मन को डिगा नहीं सकता । अंधेरी गुफा में दिया ले जाने से अंधेरा मिट जाता है, ऐसा कहने की अपेक्षा यह कहना ज्यादा उचित होगा कि अंधकार को ही प्रकाश का रूप प्राप्त हो जाता है । इसी तरह जहां अन्तःकरण निर्मल अर्थात् प्रसन्न है वहां दुःख ही सुखरूप हो जाता है, क्योंकि तमाम दुःख मनुष्य के मनोबल के परिणाम हैं । फिर वे दुःख चाहे शारीरिक हों या मानसिक ।

देखते-देखते स्थिर हो जाती है। 'प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य-
वतिष्ठते।' प्रसन्नता आई कि फिर स्थित-
प्रज्ञता आने में देर नहीं लगती। निर्वि-

प्रसन्नता से स्थिर बुद्धि

सहज साध्य

कारता अथवा प्रसन्नता चित्त की स्थिरता का प्रत्यक्ष साधन है। चित्त की स्थिरता के जो दूसरे साधन माने जाते हैं उनसे चित्त बस थोड़ी देर के लिए एकाग्र होता है। ये साधन कृत्रिम व क्षणस्थायी ही होते हैं; परन्तु चित्त का मल निकाल डालने से स्थिरता अपने-आप व सदा के लिए आ जाती है, और जब स्थिरता ही चित्त की सहज अवस्था हो जाती है तो यह व्यग्रता उलटी अखरने लगती है।

छोटे बालक के चित्त में जो एकाग्रता रहती है, उसका कारण भी यही है। छोटे बच्चे की आंखों की तरफ टकटकी लगाकर देखिये।

जैसे बालक की

बिना पलक भांजे वह एकटक देखता ही रहता है। उतने ही समय में हम दस-पांच बार पलक खोलते व मूंदते हैं। उनकी आंखों के सामने योगियों की मुद्रा भी हार जायगी। इसका कारण है उनके चित्त की निर्मलता। हां, उनमें निर्भयता अलबत्ते उतनी नहीं रहती है; इससे जहां भय मालूम हुआ नहीं कि उनकी आंखें मुंदी नहीं। शिक्षण-शास्त्र में छोटे बच्चे का चित्त फजूल ही विवाद का विषय बन बैठा है। कुछ शिक्षा-शास्त्री कहते हैं कि छोटे बच्चे का चित्त बहुत चंचल रहता है। पर वस्तुतः चित्त उनका चंचल नहीं रहता, इनका रहता है, परन्तु आरोप उनपर किया जाता है। 'उलटा चोर कोतवाल को डांटे' इसीको कहते हैं। छोटे बच्चे के लिए एकाग्रता बिलकुल मुश्किल नहीं। हमारे यहाँ चरखा कातते हुए छोटे बच्चों का ऐसा ध्यान लग जाता है कि उसे देखकर बड़े-बड़े लोगों को भी आश्चर्य होता है, लेकिन इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। सतत बहनेवाली धार एकाग्रता में सहायक होती है। इसीलिए महादेव की पिंडी पर अभिषेक की धार छोड़कर एकाग्रता का अभ्यास किया जाता है। किसी अखण्ड बहनेवाले झरने के किनारे बैठने पर चित्त एकाग्र हो जाता है।

इसी तरह सूत का धागा सतत निकलते देखकर छोटे बच्चे का निर्मल मन सहज ध्यानस्थ हो जाता है। हां, उसका दिमाग कमजोर होने से उसका ध्यान अधिक समय तक नहीं टिकता, यह बात दूसरी है; परन्तु एकाग्रता अलवृत्ते उसके लिए बहुत सहज है। सहज भी कितनी? मुंह में जरा-सी मिठाई पहुंची नहीं कि वह सारी दुनिया भूलकर उसके मिठास में लवलीन हो जाता है। एकदम रोना बन्द कर देता है। बच्चा जब रोने लगता है तो मां कहती है—वह देख, क्या फुदकता है? बच्चा अपनी सारी वृत्तियों को समेटकर कौवे की तरफ देखने लगता है। फौरन तन्मयता हो जाती है। इस सहज एकाग्रता की बदौलत ही वह शिक्षा तेजी से अट ग्रहण करता है। इस सहज एकाग्रता का कारण है चित्त में मल का होना। चित्त-शुद्धि ही स्थायी एकाग्रता का मुख्य व प्रत्यक्ष साधन है, शेष सब कोरे बाह्य उपचार हैं।

जब चित्त में वासनाएं भरी हुई हैं, तब केवल बाह्य साधनों से एकाग्रता कैसे होगी? सुबह का समय हो, आंखें खुल गई हों, शौच-समाधि कहते हैं मूल स्थिति स्नान से निवृत्त हो चुके हों जिससे चित्त को; उसे बाह्य साधनों की तरोताजा हो गया हो, आसन पर तनकर बैठे हों, दृष्टि अर्धोन्मीलित हो, ध्यान के लिए कोई श्लोक या नाम गुनगुना रहे हों, कोई मूर्ति, चित्र, ज्योति या जलधारा आंखों के सामने हो, कहीं से शांत संगीत का सुमधुर स्वर सुनाई दे रहा हो—तब जाकर, इतने तमाम उपचारों के बाद कहीं दस-पांच मिनट एकाग्रता होती है! फिर वह तो बाह्य उपचारों से ही आई होती है, अतएव कायम कैसे रहेगी? समाधि यदि आत्मा की मूल अवस्था है तो वह सहज होनी चाहिए। इसके लिए बाह्य प्रयत्नों की आवश्यकता ही न रहनी चाहिए। वह कुछ भी न करते हुए ही लगनी चाहिए, बल्कि रहनी चाहिए। खाना-पीना, देखना-सुनना, चलना-फिरना इत्यादि क्रियाएं हैं, अतः इनके लिए परिश्रम-प्रयत्न चाहिए, वह ठीक ही है। परन्तु समाधि तो मूल स्थिति है। उसके लिए बाह्य प्रयत्न की, परिश्रम की, क्या जरूरत है?

महाभारत में एक वचन है—“चित्त की शुद्धि होने पर छः महीने में समाधि लग जाती है।” इसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि

**चित्त-शुद्धि हुई कि समाधि
लगी सम्झिये**

व्यासदेव को उनके खयाल के अनुसार चित्त-शुद्धि होने के छः महीने बाद समाधि-लाभ हुआ, नहीं तो चित्त-शुद्धि होने पर फिर यह छः महीने की झंझट और क्यों ? और छः महीने का अर्थ क्या १८० दिन ही ? १७६ से काम नहीं चलेगा ? इसका अर्थ ही यह है कि अभी चित्त-शुद्धि पूरी नहीं हुई । व्यासदेव से यदि खांदकर ही पूछेंगे तो वे कहेंगे—मेरी गीतावाली भाषा ही ठीक है । गीता कहती है, “चित्त-शुद्धि होते ही एकाग्रता हो जाती है । अब, सब प्रकार के प्रयत्न छोड़ना ही जिस अवस्था का स्वरूप है, वह सहज ही सधनी चाहिए, यह कहने की जरूरत नहीं है । हमारे बालकोब (विनोबा के छोटे भाई) कहते हैं—“मैं कोशिश करता हूं, पर नींद नहीं आती ।” मैं उन्हें कहता हूं—“तुम कोशिश करते हो, इसीसे नहीं आती । कोशिश ही नींद के विरुद्ध है ।” कोशिश छोड़ देने से नींद अपने-आप आ जाती है, यही बात एकाग्रता की है । सारे प्रयत्न छोड़ देने के बाद ही सच्ची एकाग्रता, सहज एकाग्रता, सधती है । एकाग्रता के साधन ही चित्त पर उलट पड़ते हैं और क्षणिक एकाग्रता के बाद फिर व्यग्रता आ जाती है ।

परन्तु इसका यह अर्थ हर्गिज नहीं है कि जबतक सहज एकाग्रता न सध जाय तबतक बाह्य साधनों से एकाग्रता का अभ्यास न किया जाय । साधक को साधना में बाह्य साधनों में भी सहायता मिल सकती है । अतः उपयोग करना उचित ही है । और इस-लिए गीता के छठे अध्याय में साधकों के उपयोग के लिए उनको थोड़े में बताया भी है । साधना के लिए सबसे अनुकूल समय है प्रातःकाल । वह अनुपम है; मानो वह सत्त्वगुण का ही प्रतीक है । अंधकार चला गया है, प्रकाश अभी आया नहीं है । दिन रजोगुण का प्रतिनिधि है और रात को तमोगुण

समझो। और संधि-काल है सत्त्वगुण का, आत्मा के समत्व का, प्रशान्तता का प्रतिनिधि। यही कारण है जो सन्ध्याकालीन उपासना का विधान किया गया है। उस समय का दृश्य बड़ा रमणीय, पवित्र और उद्बोधक होता है। वह समय एकाग्रता के प्रयोग के लिए बहुत मौजू है। सुबह का समय खो दिया तो मानो सारा दिन ही व्यर्थ गया। अतः उस समय का उपयोग ध्यान के लिए करना निःसंशय श्रेयस्कर है; परन्तु चित्त को बाहर से टेका—सहारा—देकर खड़ा करना एक बात है और दीवार की तरह उसका अपने से सीधा तनकर खड़ा रहना दूसरी बात है। अतः गीता के अंत में जो संकेत किया है वही उचित है। जब चित्त शुद्ध हो जाता है, निर्विकार हो जाता है, तो वह खुद अपने बल पर स्वाभाविक सीधा खड़ा रहेगा। और यही संकेत पतंजलि ने भी कर रखा है। उनकी भाषा में ध्यान-योग के लिए यम-नियमों का आधार आवश्यक है। यम-नियम क्या हैं? चित्त-शुद्धि की साधना ही है; किंतु जब चित्त-शुद्धि हो जाती है, प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है, तो फिर बुद्धि के स्थिर होने की या एकाग्रता की चिन्ता करने की जरूरत नहीं है।

“प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।”

दसवां व्याख्यान

१

अवतरण अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा यह बताया गया कि संयम से प्रसन्नता-लाभ होकर बुद्धि स्थिर होती है और असंयम से चित्त-क्षोभ होकर बुद्धि-नाश होता है, बुद्धि की बुद्धि-नाश की अनर्थकारिता स्थिरता नष्ट होती है। इससे संयम का बताने के निमित्त जीवन के महत्व अपने आप सिद्ध हो जाता है पांच मूल्यों का अवतरण और यदि कोई ऐसी दीर्घ शंका ही करे कि बुद्धि की स्थिरता चली गई तो क्या बड़ा नुकसान होगा, तो उसका भी उत्तर 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' इस वाक्य के द्वारा दे दिया है। सच पूछिये तो ऐसी शंका किसीको करनी न चाहिए; और करे तो भी उसका उत्तर किसीको देना न चाहिए। परन्तु गीता ने केवल वह उत्तर ही नहीं दिया है, बल्कि उसे सविस्तर समझाने के लिए एक और श्लोक खर्च किया है। 'बुद्धि-नाशात् प्रणश्यति' यह तो एक बच्चा भी समझ लेता है—फिर उसे इतना विस्तार से समझाने की क्या जरूरत! परन्तु यह तो एक निमित्त-मात्र है। इसके द्वारा उन्हें जीवन-मूल्यों का निरूपण करना है। यह मन में जमाना है कि वे सभी स्थिर-बुद्धि पर, और, अर्थात् संयम पर अवलम्बित हैं। सद्भावना, चित्त की शान्ति और आत्म-सुख ये तीन जीवन के अतुलनीय मूल्य हैं और तीनों स्थिर बुद्धि के अभाव में खतरे में जा पड़ते हैं। अतः स्थिर बुद्धि और तत्साधक संयम, ये भी उतने ही महत्व के मूल्य हैं; बल्कि ये आखिरी दो तो स्वतन्त्र भी मूल्य हैं, साधक के व्यक्ति-विकास के ही लिए नहीं, बल्कि कुल मिलाकर सारे समाज के त्रैकालिक स्वास्थ्य के लिए भी। इससे

अधिक उपयोगी अथवा भिन्न मूल्य विचारक लोग नहीं दिखा सके हैं। ये सभी एक छोटे-से सूत्र-वाक्य में गूँथ दिये गए हैं, अतः मैं इन्हें पंचरत्नी कहता हूँ।

नास्ति बुद्धिर् अयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिर् अशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

यह है वह सूत्र-वाक्य। उसका अक्षरशः अर्थ—‘अयुक्त को बुद्धि नहीं, अयुक्त को भावना नहीं। भावना के बिना शान्ति नहीं, शान्ति के बिना सुख नहीं’—इस प्रकार सर्वाधार संयम : संयम के बिना बुद्धि नहीं होगा। यह सूत्र ही है, इसलिए इसपर भाष्य करने की आवश्यकता है। ‘अयुक्त को बुद्धि नहीं’—यह तो अवतक जो मीमांसा की गई उसका फलित बताया है। अयुक्त को अर्थात् असंयमी पुरुष को। संयम से बुद्धि और उसके अभाव में बुद्धि-नाश, इन दो अन्वय-व्यतिरेकी न्यायों की वह निष्पत्ति है। अर्थात् यह केवल पूर्वानुवाद है। “अयुक्तः काम-कारेण फले सक्तो निबध्यते।” अयुक्त पुरुष स्वैर-वृत्ति के कारण फलाशा में फसकर बांधा जाता है, ऐसा पांचवें अध्याय का वचन है। इससे ‘अयुक्त’ शब्द के अर्थ पर प्रभाव पड़ता है। अयुक्त का अर्थ है आसक्त, कामना-ग्रस्त; अक्षरार्थ से ‘युक्ति-रहित।’ युक्ति का अर्थ है संयम की युक्ति, यह हम पहले ही देख चुके हैं। इसे जीवन की कुंजी ही समझिये। जब यह मालूम हो जाता है कि व्यक्ति व समाज का रुख संयम की ओर है या स्वच्छन्दता की ओर, तो उसके जीवन का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अतः इसे जीवन का पहला मूल्य कह सकते हैं। दूसरा मूल्य है इसीसे निर्माण होनेवाली स्थिर बुद्धि।

यहांतक इस सूत्र से कहीं भी बाधा नहीं है, परन्तु इसके आगे सूत्र खण्डित-जैसा लगता है। ‘अयुक्त को बुद्धि नहीं और अयुक्त को भावना नहीं’ ऐसी भाषा आगे बोली गई है, वह त्रुटित है। गीता कहना यह चाहती है कि भावना जीवन का तीसरा मूल्य है। उससे शान्ति और शान्ति से सुख, इस प्रकार अगले मूल्य बनाये हैं।

यहांतक इस सूत्र से कहीं भी बाधा नहीं है, परन्तु इसके आगे सूत्र खण्डित-जैसा लगता है। ‘अयुक्त को बुद्धि नहीं और अयुक्त को भावना नहीं’ ऐसी भाषा आगे बोली गई है, वह त्रुटित है। गीता कहना यह चाहती है कि भावना जीवन का तीसरा मूल्य है। उससे शान्ति और शान्ति से सुख, इस प्रकार अगले मूल्य बनाये हैं।

भावना के बिना शान्ति नहीं, शान्ति के बिना सुख नहीं, ऐसा कहने से भावना की आवश्यकता समझ में आ गई। संयम से लेकर सुख तक की शृंखला संयम, भावना, शान्ति, सुख—इस तरह जुड़ गई परन्तु बीच में ही यह बुद्धि क्यों ले आये ? बुद्धि व भावना का कुछ भी सम्बन्ध नहीं बताया गया, इससे बुद्धि अधर में ही रह गई। यदि बुद्धि को एक तरफ रखकर भी संयम की आवश्यकता सिद्ध करनी हो तो वह इस सूत्र से हो सकती है, परन्तु ऐसा अपेक्षित नहीं है। संयम की आवश्यकता तो पक्की है, पर वह बुद्धि के द्वारा दिखाना चाहते हैं। किसी भी तरह से देखें, यह वाक्य अधूरा ही लगता है। इसलिए 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चाबुद्धस्य भावना'—संयम के बिना बुद्धि नहीं और बुद्धि के बिना भावना नहीं, ऐसा वाक्य यहां होना चाहिए था। परन्तु वर्तमान वाक्य को ही गृहीत करके 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया'—इस न्याय के अनुसार उसमें यह सुमंगत अर्थ बैठाना चाहिए। इसलिए 'नास्तिबुद्धिर् अयुक्तस्य, अतएव न च अयुक्तस्य भावना' ऐसा, 'अतएव' शब्द का अध्याहार मानकर काम चलाना होगा। कुल मिलाकर ऐसा अर्थ निकाला—“संयम के बिना बुद्धि नहीं, बुद्धि के बिना भावना नहीं, भावना के बिना शान्ति नहीं, शान्ति के बिना सुख नहीं।”

२

तो संयम से लेकर सुख तक अखण्ड शृंखला बताते हुए बीच की एक कड़ी जोड़ना छूट कैसे गया होगा, ऐसी शंका यहां हो सकती है। इसका उत्तर यह है कि भगवान् ने यहां बुद्धि और भावना का अद्वैत ही मान लिया मालूम होता है। इस कल्पना में एक विशेष दर्शन है। भावना से भगवान् का अभिप्राय है 'परिनिष्ठित बुद्धित', बुद्धि की परिपक्वता। बुद्धि जब इतनी परिनिष्ठित हो जाती है कि उसे अब विचार करने की जरूरत नहीं रही तो उसे भावना कहते हैं।

अध्याहार का मर्म : बुद्धि से भावना अलग नहीं; परिनिष्ठित बुद्धि ही भावना है

कुछ-कुछ बातों में बुद्धि इतनी इढ़ हो गई होती है कि फिर विचार करने की जरूरत ही नहीं रहती। यह सुनते ही कि खून हो गया, बिना विचारे मुंह से निकल पड़ता है—

**परिनिष्ठित बुद्धि-रूप
भावना के उदाहरण**

‘बड़ा बुरा हुआ !’ इसे भावना कहंत हैं। ऐसी कुछ भावनाएं समाज के हृदय में जमी हुई रहती हैं। उन्हें पुनर्विचार की जरूरत नहीं रहती। मनुष्य-समाज ने उन विषयों पर लाखों बार विचार कर-करके निर्णय कर रखा है। जैसे आप किसी भारतीय समाज के मनुष्य से पूछेंगे कि क्या शराब से कुछ भी फायदा नहीं है ? शराब थोड़ी-थोड़ी पिया करें तो क्या हर्ज है ? तो वह कहेगा—‘भाई, मैं यह कुछ नहीं जानता। तुम्हारी बातें मेरे गले नहीं उतरती।’ हमारे पूर्वजों ने हजारों बार प्रयोग किये हैं और यह निर्णय कर रखा है। कुरान में कहा है—‘शराब से फायदा कम, नुकसान ज्यादा।’ यह तो असली शास्त्रकारों का तर्कशास्त्र हुआ। पर जब एक बार बुद्धि पक्की होकर भावना में परिणत हो गई तो फिर तर्क की जरूरत नहीं रहती। तब वह स्वयं सत्य हो जाता है !

बुद्धि-पूर्वक किये गए प्रयोगों के परिणाम-स्वरूप जो भावनाएं समाज में प्रतिष्ठित हो चुकी हैं वे सामाजिक प्रगति की द्योतक होती हैं। युद्धों में इतने आदमी मारे जाते हैं तो यह सवाल पूछने को मन होता है कि जब ये मारे ही जाते हैं तो फिर इन्हें गत समाज में ऐसी अनेक भावनाएं समाई रहती हैं। उन्हींसे समाज में शांति रहती है

हट्टे-कट्टे लोग हैं। अब यदि शास्त्र-दृष्टि से यह तय होजाय कि इनका मांस खाना ठीक नहीं है, तो बात दूसरी है; परन्तु बहुत करके यही फैसला होगा कि मनुष्य का मांस मनुष्य को जल्दी आत्मसात् हो जायगा। अतः यदि और प्राणियों की तरह मनुष्य को ही हम खाने लें तो अनाज की कमी उतनी न रहेगी। और यदि यह मालूम हो जाय कि मारे गये लोग खाने के काम में आते हैं तो सम्भव है कि सैनिक लोग उन्हें और भी उत्साह व उमंग से मारेंगे।

परन्तु बावजूद इसके यह निश्चित हो चुका है कि मनुष्यों को खाना नहीं चाहिए। इसका कारण यह है कि हमारी भावना ऐसी बन चुकी है। उसके मूल में अनुभव-सिद्ध बुद्धि है। मनुष्य का मनुष्य को खाना बुरा ही है; पर यदि यह रास्ता खोल दिया जाय कि मनुष्य मनुष्य को खाने लगे तो और भी अनर्थ होगा—फिर तो समाज के पतन की कोई सीमा ही न रहेगी। यह बात मनुष्य के मन में इतनी गहरी बैठ चुकी है कि अब इसके लिए तर्क करने की गुंजाइश ही नहीं रही है। यह सद्-भावना का बढ़िया उदाहरण है। ऐसी अनेक-विध उन्नत भावनाएं जिस समाज में पैदा हो चुकी हों वह समाज शान्तिमय रहता है। इसके विपरीत जिस समाज के विचार कभी खतम ही नहीं होते, हमेशा हर बात में सन्देह व अनिर्णय रहता है, बुद्धि परिनिष्ठित नहीं होती, उस समाज में मदा अशांति ही रहेगी।

इतिहास के अनुभव से कुछ भावनाएं समाज में स्थिर हो जाती हैं। उन्हींसे सामाजिक जीवन सुव्यवस्थित रहता है। समाज में

परन्तु समाज में पैदा
भावना सर्वथा बुद्धियुक्त
ही होती हो, सो बात
नहीं। अतः भावना के

कुशल संशोधन की

आवश्यकता

समतौलता रहती है; परन्तु सभी भाव-
नाएं बुद्धि-युक्त होती हों सो बात नहीं।
अतः उनपर बुद्धि का प्रकाश डालकर
उन्हें जांच लेना चाहिए। भावना के
जितने अंश के मूल में बुद्धियुक्तता पाई
जाय उसे कायम रखना चाहिए। जितना
अंश अबुद्धि-युक्त हो, उसे निकाल डालना

चाहिए। अलवृत्ते भावना का समूल उच्छेद न करना चाहिए। उसकी शुद्धि व विकास करना चाहिए, नहीं तो समाज में फिर कोई भी स्थिर मूल्य न रहेगा। उसका तौल नहीं समझा जा सकेगा। अशान्ति व अव्यवस्था का बोलबाला हो जायगा। सामा-
जिक सद्भावनाओं के कुछ उदाहरण तो हमने देख लिये। अब और भी उदाहरण हम देख लें, जिससे यह मुद्दा ज्यादा स्पष्ट हो जायगा।

हमारा समाज भावना के द्वारा मांसाहार को हेय समझता है। उसके फलस्वरूप कुछ सारी-की-सारी जातियों ने मांस छोड़ दिया है;

संशोध्य भावना का एक परन्तु बाद को ये जातियां अपने को उच्च समझने लगीं। यही तक बस नहीं हुआ, उदाहरण : मांसाहार-कुछ जातियों को अछूत तक मानने की निवृत्ति नौबत आ गई। इस ऊंच-नीच भेद में

और भी कुछ बातें मिला दी गईं, फिर भी कुछ जातियों की मांस-विषयक वर्ज्य-भावना का अंश उसमें है ही। यह भावना तो उचित है, परन्तु उसके सिलसिले में आये ऊंच-नीच भेद को छोड़कर ही उसको अपना ना व पुष्ट करना पड़ेगा।

दूसरी एक और भावना है हमारे समाज में अन्नदान के महत्त्व-सम्बन्धी। सब दानों में अन्न-दान श्रेष्ठ व निर्दोष माना

गया है; परन्तु समाज में उस भावना दूसरा उदाहरण : का विनियोग करते हुए आज उसे विकृत अन्नदान-संबन्धी श्रद्धा व अनिष्ट रूप प्राप्त हो गया है। परन्तु

इस कारण उसके मूलस्थ सन्देश को मार देना इष्ट न होगा। उसे सुधारकर परिपुष्ट करना चाहिए। अन्नदान को श्रेष्ठ मानने में यह कल्पना गृहीत है कि प्रत्येक भूखे मनुष्य को भोजन का अधिकार है। उसे भोजन देना समाज का कर्तव्य है। अन्नदान मनुष्य को सीधा ही पहुँच जाता है। दूसरी तरह से सहायता पहुँचाने में दूसरी एजेन्सियां, दूसरे मध्यस्थ, बाधक हो जाते हैं; परन्तु इसमें इस बात की सावधानी जरूर रखनी चाहिए कि जिसका पेट भरा हुआ है उसपर और अन्न का बोझ न लादा जाय, अन्नदान का अतिरेक न हो जाय, उससे आलस्य को प्रोत्साहन न मिले। मूल भावना को कायम रखकर विनियोग की पद्धति में इष्ट सुधार करना चाहिए। बुद्धि के प्रकाश में भावना के शुद्धीकरण करने का सामाजिक दर्शन हमें इसमें से मिलता है।

राष्ट्र में भावनाएं तो भिन्न-भिन्न रहेंगी ही; वे यदि परिशुद्ध

होंगी तो राष्ट्र में शान्ति रहेगी। परिशुद्ध न होंगी तो अशान्ति का स्थिर प्रज्ञा पर ही स्थापित किसी के भी लिए पथ्यकर नहीं हो सकती। तब फिर शान्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की कृत्रिम व हिंसक तजवीजें भी खड़ी की जाती हैं। आज यही हो रहा है। समाज में यदि स्वाभाविक तौर पर शान्ति रखना है तो उसके लिए यही उपाय है कि शुद्ध भावना को कायम रखकर उसका विकास करें व अशुद्ध भावना निकाल डालें। अब यह बताने की जिम्मेदारी, कि सद्भावना कौन-सी और असद्भावना कौन-सी, एक स्थितप्रज्ञ की ही है; क्योंकि उसकी बुद्धि स्थिर व तटस्थ हो गई है, अतः वह इस बात की असली परख कर सकता है कि कौन-सी भावना सत् और कौन-सी असत् है। भावना में कला, संगीत, सौन्दर्य-सम्बन्धी कल्पनाएं, मनोविनोद के साधन, धार्मिक उत्सव, पूजा-विधि इत्यादि सभी बातें आ जाती हैं। राष्ट्र के जीवन-विकास के लिए इन सब विभागों में उचित विकास होना आवश्यक है। यदि इसके संबंध में राष्ट्र में अंशतः धारणाएं रूढ़ हों तो उस राष्ट्र की अधोगति ही होगी। उसमें अव्यवस्था फैल जायगी। अर्थात् ये सब चीजें स्थिर बुद्धि की बुनियाद पर खड़ी करनी चाहिए। स्थिर बुद्धि का अर्थ है शास्त्रीय बुद्धि। उसमें आत्मज्ञान, शरीर-विज्ञान, सृष्टि-विज्ञान, सृष्टि-पदार्थ-विज्ञान, गणित, चिन्तनशास्त्र इत्यादि सब आगये। ऐसी स्थिर बुद्धि की शास्त्रीय बुनियाद पर सामाजिक भावनाएं आधारित हों तो फिर अपने-आप शान्ति रहेगी, उसकी स्थापना के लिए कृत्रिम उपाय नहीं करने पड़ेंगे। ऐसा समाज अहिंसक रहेगा। सारा राष्ट्रीय विधान ही ऐसा होगा कि शान्ति उसका स्वाभाविक लक्षण होगा।

इसके लिए समाज में इतनी बुद्धि आ जानी चाहिए कि वह मार्ग-दर्शन की जिम्मेदारी स्थितप्रज्ञ व्यक्ति पर अतः स्थितप्रज्ञ का नेतृत्व ही डाले। जिस समाज के लोगों में मानना चाहिए इतनी अकल न आई हो, या समाज के बड़े लोगों ने उन्हें इतनी समझ प्रदान न की हो, तो फिर वहां

मार्ग-दर्शन का काम अस्थित-प्रज्ञ नेताओं के पास रहेगा । स्थितप्रज्ञ के पथ-दर्शन में सामाजिक नीति का आधार संयम ही रहेगा । विज्ञान के द्वारा जीवन का यथार्थ सत्य खोजा जायगा और समाज में फैलाया जायगा । कला हृदय-विकास का भाग है उसकी रचना विज्ञान के आधार पर होगी और ऐसा समाज-विधान निर्मित होगा, जो समाज को समतोल रख सकेगा और जिसके फलस्वरूप समाज में स्थायी शान्ति व समाधान रहने लगेगा ।

ग्यारहवां व्याख्यान

१

‘भावना’ शब्द का थोड़ा और विचार कर लेना उपयोगी होगा ।
वैद्यक-शास्त्र में ‘भावना’ का अर्थ है घोटना, घोलना, पुट चढ़ाना ।
होमियोपैथी में दवाएँ घोटी जाती हैं ।
‘भावना शब्द का थोड़ा और विचार मर्दन से उनकी ताकत बढ़ती है, उनका गुण बढ़ता है । इसी तरह बुद्धि को घोटते रहने से उसकी शक्ति बढ़ करके वही भावना बन जाती है । स्थित-प्रज्ञ की बुद्धि परिणत होती है । अतः उसके जीवन में सिर्फ भावना ही रहती है । उसका जीवन भावना से लबालब भरा रहता है । बुद्धि व भावना में एक भेद और है । बुद्धि सिर्फ दिशा दिखाती है । भावना दिशा भी दिखाती है व काम भी करती है । बुद्धि जब कार्यक्षम व कार्यकारी हो जाती है तो वही भावना बन जाती है । बुद्धि का रूपान्तर भावना में होने के लिए बुद्धि को घोटना जरूरी है । ‘सब भूतों में एक ही आत्मा है’ यह स्थित-प्रज्ञ के लिए तर्क-रूप बुद्धि न रहकर उसकी रग-रग में भरी हुई भावना हो जाती है । अतः उसे सारे समाज के प्रति वात्सल्य-भाव मालूम होने लगता है । माता के मन में अपने बच्चे के प्रति जैसा वात्सल्य रहता है वैसा ही स्वाभाविक भाव उसका हो जाता है । तब उसके द्वारा समाज की सेवा सहज स्वभाव से होने लगती है । यहां यह शंका रहने की जरूरत नहीं है कि स्थितप्रज्ञ का जीवन बुद्धिमय होता है तो फिर उसमें भावना के लिए स्थान कैसे रहेगा ? क्योंकि यह हम पहले ही देख चुके हैं कि स्थिर हुई बुद्धि ही भावना है । स्थितप्रज्ञ का जीवन बुद्धिमय होता है, इसीलिए वह भावनामय होता है ।

परन्तु ऐसी शंका इसलिए उत्पन्न हो जाती है कि हम आजकल बहुत बार 'भावना' शब्द का प्रयोग बुद्धि के खिलाफ अर्थ में करते हैं और उसकी तुलना बुद्धि के साथ करते हैं। आजकल हम कहने लगे हैं—
बुद्धि-प्रधानता बनाम भावना-प्रधानता—यह भेद स्थित-प्रज्ञ के अन्दर लोप हो जाता है फलां शस्त्र भावना-प्रधान है, व फलां बुद्धि-प्रधान। इसके द्वारा हम यह कहना चाहते हैं कि एक भावना की अधिकता व बुद्धि की कमी तथा दूसरे में बुद्धि की अधिकता व भावना की कमी है। भावना-प्रधान शब्द का अर्थ यहां होता है निरंकुश मन, मन पर बुद्धि का अंकुश न रहना। यहां भावना शब्द का प्रयोग मन को लक्ष्य करके किया गया है, परन्तु गीता की शिक्षा में जो 'भावना' शब्द आया है वह हमारी हृदगत वस्तु का निर्देश करता है। गीता की भावना मन का विकार नहीं, बल्कि हृदय का गुण है। वस्तुतः गीता हृदय व बुद्धि में भेद नहीं करती, बल्कि यह मानती है कि बुद्धि का जो अन्तर-तम भाग—गूदा—है, वही हृदय है। 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्', 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' इत्यादि वचनों में हृदय का अर्थ 'बुद्धि का भीतरी भाग' ही है। हम जब किसीको 'भावना-प्रधान' कहते हैं तब वास्तव में हम उसे 'विकार-प्रधान' कहना चाहते हैं। जिस भावना पर बुद्धि की सत्ता नहीं चलती, वही विकार है। गीता को ऐसी भावना अभीष्ट नहीं। इसके विपरीत जब हम किसी को 'बुद्धि-प्रधान' कहते हैं, तब हमारा आशय यह होता है कि इसमें हृदय की आर्द्रता नहीं है, केवल तर्क-शक्ति का ही विकास हुआ है; परन्तु स्थितप्रज्ञ की स्थिति बिल्कुल ही दूसरी है। वह अपनी 'बुद्धि को हृदय के हवाले कर देता है। जो अपनी बुद्धि को घोट-घोटकर भावना में रूपान्तरित कर देता है, उसकी बुद्धि हृदय में विलीन हो जाती है; उसकी बुद्धि व भावना एकरस हो जाती है।

हमने अबतक बुद्धि का रूपान्तर भावना में करने के साधारण प्रयोगों पर विचार किया। अब कुछ विशेष शास्त्रीय प्रयोगों पर

विचार कर लेना चाहिए। इसमें पहला है जप। 'जप' का अर्थ केवल 'वाणी से उच्चार' नहीं, बल्कि मन बुद्धि को भावना में परिणत करने के उपाय : जप, ध्यान व आचरण में भी वही विचार घुटते रहना चाहिए। वाणी इस क्रिया में सहायक होती है। वह क्रिया मनन-जैसी ही होती है तो भी वह मनन नहीं है। 'मनन' निर्णय के लिए होता है। जप में तो पूर्व निर्णय को दृढ़ किया जाता है। यह वाणी के द्वारा होता है। जप व मनन में यह फर्क है। यदि इस फर्क को भुला दें तो फिर दोनों क्रियाओं में कोई अन्तर नहीं रह जाता। दूसरा प्रयोग है ध्यान। ध्यान का अर्थ है उस विचार से तन्मयता, उसके अनुकूल उपासना। इसीमें से तीसरा प्रयोग—आचरण—शुरू होता है। 'विचार के अनुकूल सारे जीवन की रचना' उसका स्वरूप होता है। इस तरह १-जप, २-ध्यान, व ३-आचरण—इन तीन प्रयोगों से बुद्धि का रूपान्तर भावना में होता है।

इस विषय का विचार और भी एक दृष्टि से किया जा सकता है। स्थित-प्रज्ञ के लक्षणों में दर्शित 'बुद्धि' आत्मनिष्ठ बुद्धि है। जब आत्मज्ञान घुट-घुटकर आत्मसात् हो जाता है तब उसका रूपान्तर भक्ति में होता है। अतः यहां भावना शब्द का अर्थ भक्ति भी लिया जा सकता है। बोध को प्रेम का रूप प्राप्त होना, मानो ज्ञान को भक्ति का रूप मिलना है। जब बोध स्थिर हो जाता है, तो वह इतना प्रिय लगने लगता है कि मन नित्य निरन्तर उसीमें रमने लगता है। ऐसा होने से बोध का रूपान्तर प्रेम में होता है। इसलिए भावना का अर्थ भक्ति किया जा सकता है। तभी यह बात समझ में आती है कि प्रेम के बिना अथवा भक्ति के बिना शान्ति नहीं होती। बोध जब अत्यन्त प्रिय हो जाता है तब मन उसमें रँगने लगता है, उससे घिर जाता है, मन्त्रमुग्ध-जैसा हो जाता है। ऐसा हो जाने पर फिर अशान्ति हमें नहीं छू सकती। पेड़ की जड़ को रोज पानी मिलता रहा

तो वह सदा लहलहाता रहता है। इसी तरह यदि अन्तर्याम में बोध का झरना सतत बहता रहे, उसे प्रेम का रूप प्राप्त हो गया है और सतत प्रेम-रस मिलता रहे तो जीवन सदा लहलहाता रहता है। आपत्तियां आ जाने पर भी वे सम्पत्ति का रूप ले लेती हैं। उनसे शान्ति बढ़ती है। इस तरह बोध व भक्ति का अभेद्य सम्बन्ध है। बोध के बिना भक्ति नहीं, भक्ति के बिना शान्ति नहीं, शान्ति के बिना सुख नहीं।

२

परन्तु यहां सुख का अर्थ मन का सुख नहीं है। मन का सुख-दुःख और होता है, मनुष्य का और। मन को सुख-दुःख होने से यह लाजिमी नहीं है कि मनुष्य को भी सुख-दुःख हो ही। आज इतने लोग देश के लिए मानसिक दुःख सहन करते हैं; उससे चाहे मन को कष्ट होता हो तो भी उन्हें सुख ही मालूम देता है, क्योंकि इसमें कल्याण की कल्पना रहती है। जीभ को जो मीठा या कड़वा लगता है वह मनुष्य को भी वैसा ही लगता हो सो बात नहीं। दवा जबान को कड़वी लगती है, परन्तु मनुष्य को मीठी ही लगती है। अतः मनुष्य को जब मानसिक दुःख कल्याणकर मालूम होता है तो वह उसे सहर्ष स्वीकार करता है। अतः मानसिक सुख-दुःख की व्याख्या से, जीवन-दृष्टि से की गई सुख-दुःख की व्याख्या भिन्न है। शरीर को सुख आरोग्य से मिलता है; किंतु शरीर में बल का मचलना--फूट निकलना, दीवार से टक्कर मारने की उमंग पैदा होना आरोग्य का लक्षण नहीं है। उसका बल खुद उसीसे नहीं संभल पाता। बल ही एक बीमारी हो बैठता है। आरोग्य का अर्थ है शरीर का समतोल रहना। आरोग्य एक बात है, बल का उद्रेक दूसरी। आरोग्य में स्वस्थता रहती है। बेकार बल में क्षोभ होता है। उसी तरह जिस सुख से मन को हर्ष होता है वास्तव में वह सुख ही नहीं है। जीवन के वास्तविक सुख जुदा होते हैं। उनका निवास शान्ति में होता है, चित्त की खलबली में नहीं। उनका आरम्भ निर्विकारता से होता है। निर्विकारता

से बोध, बोध से भक्ति अथवा निष्ठा, फिर शान्ति, व फिर सतत, अरुचियुक्त सुख—ऐसी परम्परा है ।

दूसरे सुखों से शान्ति भंग होती है, अतः उनसे जी उकता जाता है । हमेशा वही-की-वही चीज अच्छी नहीं लगती । मन कहता है, 'होना' पन का सुख ही अब इसमें कुछ परिवर्तन हो तो अच्छा । परन्तु आत्मा का रुख ऐसा है कि उससे सच्चा सुख : वही सतत, जी नहीं ऊबता । मन कहता है कि अरुचियुक्त सुख वह ऐसा ही निरन्तर बना रहे । उससे

हम उकताते नहीं । संगीत चाहे कितना ही मधुर-सुरीला हो, पर चौबसों घंटे कान पर वही-वही राग, स्वर व धुन आते रहने से जी ऊब जाता है । यही बात रंगों की है । तरह-तरह के रंगों को देखकर थोड़ी देर के लिए आंखों को भला मालूम होता है, परन्तु यदि इन रंगों की भरमार आंखों पर होने लगे तो वे परेशान हुए बिना न रहेंगी । आराम के लिए वे आकाश के रंगहीन नीले रंग का सहारा खोजने लगेंगी । आकाश के नील वर्ण से आंखें थकती-ऊबती नहीं : इसीलिए उपासना में ईश्वर का रूप 'गगन-सदृश' माना गया है । दूसरे चटकीले रंगों में और आकाश के मौम्य रंग में जैसा अन्तर है, वैसा ही दूसरे सुख व आत्म-सुख में है । आत्म-सुख कहते हैं अपने होनेपन के अखंड सुख को । कोई क्षण-भर के लिए भी नहीं चाहता कि मैं न होऊं । शरीर छूट जाय, यह तो भले ही कोई चाहे; फलां जगह में न रहूं, यह भी किसी की इच्छा हो सकती है; परन्तु यह कोई नहीं चाहता कि मैं बिल्कुल न होऊं । अपने अस्तित्व से हमारा जी कभी ऊब ही नहीं सकता । केवल अस्तित्व का सुख सतत व अरुचि से परे होता है । शेष सब सुख अस्तित्व पर के विकार हैं । अस्तित्व का हमें जो भान होता है वह भी विकार ही है ।

इसलिए योग-शास्त्र में कुम्भक के संकेत से आत्मा के केवल अस्तित्व का दर्शन कराया जाता है । सांस अन्दर लेने की क्रिया पूरी हो चुकी है, बाहर छोड़ने की क्रिया अभी शुरू नहीं हुई है ।

कुम्भक के उदाहरण
से इसे समझें

इस बीच का जो अति-सूक्ष्म उभयवृत्ति-वर्जित, निष्क्रिय, तटस्थ क्षण होता है, उसका चिन्तन करने से 'केवल अस्तित्व' का दर्शन हो जाता है। इसलिए कुछ गुमराह साधक इस क्षण को अधिक-से-अधिक लम्बाने का स्थूल प्रयत्न—जिसे दीर्घ कुंभक कहते हैं—साधने का प्रयास करते हैं। पर सच पूछिये तो जरूरत कुंभक को लम्बाने की नहीं, बल्कि कुंभक-दृष्टान्त द्वारा सूचित आत्मस्थिति को पहचानने की और उसी अनुभव में सतत स्थिर रहने की है। कुंभक तो एक उदाहरण-मात्र है। ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। ज्ञानदेव ने अपने 'अमृतानुभव' में ऐसे अनेक दृष्टान्त एक जगह एकत्र किये हैं। 'रात समाप्त हुई, दिन का आरम्भ अभी नहीं हुआ है।' 'वर्षाकालीन नदी का चढ़ाव समाप्त हो गया है, परन्तु अभी ग्रीष्मकालीन उतार शुरू नहीं हुआ है।' जैसे ये दृष्टान्त हैं, वैसे ही कुंभक भी एक दृष्टान्त ही है। अब कुंभक-प्रक्रिया को शारीरिक कारणों से लम्बाना हो, तो बात दूसरी है। आध्यात्मिक दृष्टि से तो सिर्फ मध्यस्थ दशा की ओर ध्यान खींचना है। केवल निरुपाधिक मध्यस्थ दशा लक्ष्य है। हमें अपने सारे जीवन की तमाम उपाधियों से मुक्त होना चाहिए। 'मैं यह हूं,' 'मैं वह हूं'—ऐसे तमाम विशेषणों को निकालने में समर्थ हो जाना चाहिए। तमाम गुण-दोषों का निरास करते-करते मनुष्य का जो मूल उपशान्त स्वरूप शेष रह जाता है उसीमें सुख है। यह दिखाने के लिए कि शान्तिमय सुख दूसरे साधारण सुखों से भिन्न है जो उसे नित्य सुख, आत्मसुख, चित्त-सुख आदि कहते हैं। वही वास्तविक सुख है, इसलिए उसे 'सत्यसुख' भी कह सकते हैं। 'सच्चिदानन्द' शब्द में यही भाव सूचित किया गया है। आत्मा में बुद्धि के स्थिर हो जाने के बाद वह सुख प्राप्त होता है। इसलिए जिसकी प्रज्ञा स्थिर हो गई है उसका जीवन सुखी है।

यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि हम आत्मा से बाहर के विषयों में बुद्धि को डालें ही नहीं, तो लोक-व्यवहार कैसे चलेगा? जैसे यदि चमड़े का व्यवसाय तो करें, पर उसमें बुद्धि न लगावें तो फिर वह उद्योग चलेगा कैसे? उसे करें भी क्यों? यदि बुद्धि को

आत्मा में स्थिर रखना है तो फिर ये बाहर के काम-काज—

आत्म-सुखानुभूति का व्यव- उद्योग—होंगे कैसे ? इसका समाधान
हार से विरोध नहीं है । यह है कि सामान्य लोक-व्यवहार में
इतना देख लेना काफी है जिस बुद्धि का उपयोग होता है वह
कि आत्म-बोध बाह्य उद्योगों बुद्धि की एक शक्ति है । उसे तर्क कह
में खर्च न हो सकते हैं । बाहरी बातों में उससे काम
लिया जाय तो हर्ज नहीं, परन्तु 'अहं

बुद्धि' नामक जो बुद्धि का गूदा—सारभाग—है, उसे आत्मा में स्थिर रखकर हमें तटस्थ रहना चाहिए । आत्म-बोध को बाहरी उद्योग में खर्च न करना चाहिए । साधारण बुद्धि को लोक-व्यवहार में लगाकर दूसरी तरफ आत्मबोध में लीन रहना है तो मुश्किल; परन्तु इस कारणवश उसे छोड़ नहीं देना चाहिए । निरन्तर प्रयत्न करने से वह सध जायगा, क्योंकि वह कृत्रिम नहीं है, अतः यह निश्चित है कि उसमें सफलता मिलेगी ।

इसकी मैंने एक तरकीब खोज निकाली है । किसी भी बाह्य वस्तु का परिणाम उसी क्षण न होने देना चाहिए । दूसरे क्षण हो तो आत्म-बोध को खंडित न परवाह नहीं, परन्तु पहले क्षण तो न होने देने की तरकीब : होने देना चाहिए । किसीने विनोद किया, पहले क्षण आप मत हँसिये । किसीने पहले क्षण आघात का असर एक तमाचा जड़ दिया, पहले क्षण आंखों न होने दें । में आंसू मत आने दीजिये । पहले क्षण तो यह प्रतीत होने दीजिये, मानो यह भावना का स्पर्श है । दूसरे क्षण चाहे तो भले ही आंसू आ जावें । मां के मर जाने की खबर आ जाय तो पहले क्षण हृदय को धक्का मत लगाने दो । अपनी शान्ति को विचलित न होने दो । यदि आपने अपने मन को इतना साध लिया तो फिर आगे की बातें अपने-आप सध जायंगी ।

बारहवां व्याख्यान

१

इसके अगले श्लोक में संयम की आवश्यकता फिर एक दूसरी तरह से बतलाई है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन् मनोऽनुविधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नाविमिवाम्भसि ॥

जब इन्द्रियां स्वच्छन्द बरतने लगती हैं और मन उनके पीछे जाता रहता है तो फिर बुद्धि ज्यों-की-त्यों साबित व तटस्थ नहीं रह सकती ।

इन्द्रियों के पीछे जाने वाला

मन बुद्धि को भी खींच ले

जाता है । इसलिए संयम

की आवश्यकता

जब मन इन्द्रियों की तरफ चला जाता

है तो इन्द्रियां व मन मिलकर उनका

पक्ष प्रबल हो जाता है । फिर बुद्धि

अपना काम नहीं कर पाती । इसका

अर्थ यह नहीं कि बुद्धि नष्ट हो जाती

है । बुद्धि का अबुद्धि हो जाना शक्य नहीं है, इसलिए वह कुबुद्धि

बन जाती है और उस दशा में वह अबुद्धि से भी ज्यादा अनर्थकारिणी

हो जाती है; परन्तु मन यदि बुद्धि की तरफ आ जाय तो फिर बुद्धि

का पक्ष जोरदार हो जायगा और इन्द्रियों को इनके पीछे चलना पड़ेगा ।

जब बुद्धि के अनुकूल मन और मन के अनुकूल इन्द्रियां हो जाती हैं तब

जीवन का सारा व्यवहार आत्मा के अनुकूल हो जाता है । इसके

विपरीत यदि इन्द्रियों के पीछे बुद्धि चलने लगे तब वह अंट-शंट प्रयोग

करने लगती है और मन के पक्ष का समर्थन करने के लिए तरह-तरह

के कुतर्क रचने लगती है । ऐसा होने पर जीवन का सारा व्यापार

आत्मा के प्रतिकूल होने लगता है ।

पहले एक जगह बुद्धि-नाश की परम्परा बताते हुए एक श्लोक में

यह कहकर कि विषय-चिन्तन द्वारा पहले मन पर आक्रमण होता है।

बुद्धि नौका की तरह तारक,
परन्तु मन की पकड़ में आ
जाय तो वही मारक हो
जाती है

अगले श्लोक में यह अलग से दिखाया है कि फिर मोह आदि उत्पन्न होकर उनकी आंच बुद्धि को कैसे लगती है। इसी का स्पष्टीकरण यहां किया जा रहा है। जब सवार के हाथ में लगाम और लगाम के बस में घोड़ा हो तब सवार बेखटके मुकाम पर पहुंच सकता है; परन्तु इसके विपरीत घोड़े के बस में लगाम और लगाम के बस में सवार हो जाय तो फिर मुकाम पर पहुंचने की कोई आशा नहीं, ऐसा कठोपनिषद् में विवेचन किया गया है। वही बात यहां नाव की उपमा देकर समझाई गई है। बुद्धि नाव की तरह तारक है; परन्तु वह यदि हवा के चक्कर में आगई तो फिर पार नहीं लगा सकती। बुद्धि यदि मन की पकड़ में आजाय तो फिर उसकी तारक-शक्ति नष्ट हो जाती है और वह डुबोने का कारण बन जाती है।

यदि ऐसी कोई तरकीब होती कि जिससे मन इंद्रियों के पीछे चला जाय तो भी वह बुद्धि को न छू सके, तब तो हम कह सकते थे कि वह खुशी से जाय, हमारा क्या बिगड़ेगा !

बुद्धि और मन सदा के लिए
जुदा नहीं हो सकते। या
तो बुद्धि मन के वश में हो
जायगी, या मन बुद्धि के वश
में रहेगा। दूसरी बात
श्रेयस्कर

बुद्धि व आत्मा का पक्ष मजबूत हो जाने पर हम यह मान सकते हैं कि मन यदि इंद्रियों के चक्कर में आकर विषयों की ओर झुके भी, तो हमें परवाह नहीं है। हम लोगों को ऐसा कहते हुए सुनते भी हैं कि “भले ही हम विषय-विलास में लगे हों तो भी हमारी बुद्धि उसमें फंसती नहीं है। विचार करते समय हम उस विषय को भूलकर तटस्थता के साथ विचार करते हैं।” परन्तु यह भ्रम है। ऐसा हो नहीं सकता। हो तो यह सकता है कि इंद्रियां, मन व बुद्धि तीनों को एक पक्ष में डालकर हम उससे भिन्न या पृथक् रहें; क्योंकि आत्मा बिल्कुल भिन्न—पृथक्—है। आत्मा व बुद्धि के बीच में खाली जगह है। उनके बीच में आप दीवार खड़ी कर

सकते हैं। परन्तु वह तभी हो सकता है कि जब आप स्थितप्रज्ञता प्राप्त कर लें। यह वेदांत है। यह है तो कठिन, परन्तु शक्य है। मन व बुद्धि के बीच खाली जगह नहीं है। वे परस्पर सम्बद्ध हैं। इसलिए जिस तरह आत्मा एक ओर और बुद्धि, मन तथा इन्द्रियां दूसरी ओर, ऐसे दो टुकड़े खुशी से किये जा सकते हैं, वैसे आत्मा व बुद्धि एक ओर और मन व इन्द्रियां दूसरी ओर, ऐसे टुकड़े करने की गुंजाइश नहीं है। तब फिर या तो इन्द्रियों के अधीन मन व मन के अधीन बुद्धि हो सकेगी, अथवा बुद्धि के अधीन मन व मन के अधीन इन्द्रियां हो सकेंगी। इनमें दूसरा मार्ग इष्ट व श्रेयस्कर है, ऐसा संकेत यहां किया गया है।

२

परन्तु इस श्लोक में यदि इतना ही बताया गया होता तो कोई बड़ी बात नहीं थी। अतः इसमें कोई विशेष अर्थ गंभीर होना चाहिए। ज्ञानदेव का खास सुझाव : ज्ञानदेव ने यह अर्थ स्पष्ट किया है। उनके मतानुसार इस श्लोक में खतरे की घंटी बजाई गई है। इसमें यह सूचित किया गया है कि मनुष्य भले ही लगभग स्थितप्रज्ञ हो गया हो तो भी उसे गाफिल न रहना चाहिए। ज्ञानदेव कहते हैं—

“प्राप्त पुरुष भी
यदि कुतूहल से इन्द्रियों को दुलरावे,
तो उसपर सांसारिक दुःखों के द्वारा
आकमण हुआ ही समझो।”

‘प्राप्त’ कहते हैं पहुँचे हुए पुरुष को, अर्थात् जो मंजिल पर पहुँच गया है। तो ऐसा स्थिरबुद्धि पुरुष इन्द्रियों को दुलार क्यों करने लगा? इसलिए ‘कुतूहल से’ कहा है। वह यदि सहजभाव से, कुतूहल से, असावधानी अथवा गफलत में आकर इन्द्रियों को खुला छोड़ने लगे तो फिर उसका भी मन उससे भी बलवान् होकर उसे खींच ले जायगा। यदि

इस बात पर विचार किया जाय कि यह अर्थ ज्ञानदेव को कैसे सूझा होगा, तो उसमें उनकी बुद्धि की सूक्ष्मता का परिचय मिलता है। इस श्लोक में यह नहीं कहा गया है कि जिस तरह हवा नाव को खींच ले जाती है उस तरह मन बुद्धि को खींच ले जाता है। बुद्धि की जगह यहां जो 'प्रज्ञा' शब्द का प्रयोग किया गया है, सो क्या फिज़ूल है? इस 'प्रज्ञा' शब्द से ज्ञानदेव ने यह आशय लिया कि मनुष्य को किसी भी दशा में अपने मन को खुला न छोड़ना चाहिए। समर्थ रामदास ने भी अपने 'मनाचे श्लोक' में अन्तिम उपदेश इसी तरह का दिया है, 'मना गूज रे तृज हें प्राप्त जालें' अर्थात् अरे मन, तुझे जो-कुछ मिलना था सो सब मिल गया है। तू अपने मुकाम पर पहुँच गया है। फिर भी गाफिल रहना ठीक नहीं। "तरी अन्तरी पाहिजे यत्न केले।" 'रहस्य पा लेने पर भी तू अपना हाथ खींच के ही रख। लगाम ढीली मत छोड़।' अर्थात् उनका आशय यह है कि बुद्धि के स्थिर होकर प्रज्ञा-रूप हो जाने के बाद भी हम गाफिल न रहें, लगाम ढीली न करें।

परन्तु ज्ञानदेव ने एक दूसरी जगह कुछ दूसरे प्रकार के उद्गार प्रदर्शित किये हैं—“गंगा जव समुद्र के पास जा पहुँचती है तो उसकी गति मन्द हो जाती है”; “शत्रु को जीत लेने पर तलवार का हाथ ढीला हो जाता है।” इन उद्गारों से यह ध्वनित होता है कि ज्ञानी पुरुष को साधना की जरूरत नहीं रहती। और यहां तो उन्होंने उसके लिए खतरे की घंटी बजाई है। इन दोनों बातों में मेल कैसे बैठे? इसका मेल यह है कि ज्ञानी के लिए सावधानता ही सहज हो जाती है। ब्रह्मसूत्र-भाष्य में शंकराचार्य ने यही अर्थ कुछ भिन्न भाषा में दिया है। “आत्मज्ञानी स्वच्छन्द आचरण कैसे करेगा? स्वच्छन्द आचरण के लिए भी तो कुछ अहंकार आवश्यक होगा न!” उनकी यह उक्ति बड़ी मार्मिक है। वह तो संयम के ही सहारे स्थित-प्रज्ञ हुआ है। वह असंयत व्यवहार करेगा कैसे? संयत व्यवहार ही तो उसका स्वभाव है। स्थित-प्रज्ञ के लिए अब नियम नियम नहीं रहता,

वस्तुतः ज्ञानी नियम से
संयमी नहीं रहता, स्व-
भाव से रहता है

संयम संयम नहीं रहता। उसके पास ऐसा भेद-भाव बाकी नहीं रहता कि नियम मुझसे कुछ भिन्न हैं और मुझे उनका पालन करना है। सूर्य नियम के कारण प्रकाशित नहीं होता, स्वभाव से होता है। गंगा नियम के कारण नहीं बहती, स्वभाव से बहती है। यही स्थिति स्थितप्रज्ञ की होती है।

पर क्या इंद्रिय-संयम उसके लिए एक बोझ होता है? उलटे इंद्रियों का असंयम ही एक बोझ रहता है। कोई व्यक्ति गणित पढ़कर पारंगत हो गया, बड़ा गणितज्ञ जानी तो ठीक परन्तु साधक को भी संयम भार-रूप नहीं होता

अब मेरे लिए गणित के नियम न रहें? क्या वह यह कहेगा कि अब मेरे लिए दो और दो चार नहीं, बल्कि तीन हुआ करें? यदि हां, तो फिर उसका गणित ही खत्म हुआ और कहना होगा कि उसका दिमाग मुकाम पर नहीं है। जबतक हम यह समझते रहेंगे कि संयम एक बोझ है, बोझ है, तबतक वह अप्रिय ही लगेगा। साधक भी तो ऐसा नहीं समझता। हां, यह ठीक है कि साधक को शुरू-शुरू में संयम थोड़ा तापदायक मालूम होगा। और वह तापदायक होता है, इसीसे तो उसे 'तप' कहा है। यदि संयम में बिल्कुल ही ताप न हो तो फिर वह 'तप' किस बात का? परन्तु शुरू में यद्यपि संयम थोड़ा तापदायी हो तो भी साधक उसे बोझ कहीं नहीं मानता, उल्टा उसे उसके लिए उत्साह ही नहीं रहता है। मुसाफिर को लड्डू की झोली क्या भारी लगेगी? अतः जब खुद साधक को ही संयम भार-रूप नहीं होता तो फिर स्थित-प्रज्ञ के लिए तो उसका सवाल ही कहां रहा?

अभ्यास हो जाने से संयम स्थिर-बुद्धि का एक अंग ही हो जाता है। स्थिर बुद्धि संयम पर ही खड़ी रहती है। तो फिर, स्थिर बुद्धि हो जाने पर मनुष्य संयम के विषय में ही ढिलाई कैसे करेगा? मनुष्य और सब डालियों को काट डालेगा, परन्तु जिस डाल पर

स्थितप्रज्ञ के लिए असंयम
अशक्य : क्योंकि स्थिर
बुद्धि का तो आधार ही
संयम है

वह खुद बैठा है उसे कैसे काटेगा ? स्थिर बुद्धि चूँकि संयम पर पाँव रखकर खड़ी है तो संयम पर ही कुल्हाड़ी नहीं चलावेगी। अतः यदि स्थिर बुद्धि संयम पर ही प्रहार करने लगे तो समझो कि वह आत्महत्या ही कर रही है। ज्ञानदेव का आशय यही है। उसका अर्थ यह नहीं है कि स्थित-प्रज्ञ को नित्य प्रयत्नशील रहना पड़ता है; परन्तु मान लें कि संयम के विषय में उसने ढिलाई की है तो फिर इससे स्थित-प्रज्ञता की बुनियाद ही ढह जायगी, और इसलिए उससे ऐसा हो नहीं सकता, यह इस श्लोक का गहरा अर्थ है।

एक ओर से यह कहा जाता है कि स्थित-प्रज्ञ को साधना की अथवा सावधानता की जरूरत नहीं है, तो दूसरी ओर से यह कहते हैं कि उसके लिए भी इसकी जरूरत है। सावधानता की अपेक्षा न रखनेवाली सहजावस्था एक हमने इन दो परस्पर-विरुद्ध भासित प्रकार से मानवीय आकांक्षा होनेवाले कथनों में इस तरह मेल बैठाया मात्र है। अतः सावधानी कि स्थित-प्रज्ञ के लिए सावधानता सहज का संकेत हर हालत में होती है। एक दूसरी तरह से भी यह मेल उचित ही है। बैठाया जा सकता है। ऐसी सहजावस्था, जिसके लिए सावधानता की अपेक्षा न

हो, एक तरह से मनुष्य की आकांक्षा-मात्र है। निदान लाखों लोगों के लिए तो वह ऐसी ही है। इस देह में स्थित-प्रज्ञ की पूर्ण व्याख्या तक पहुँच जाना अशक्य न हो तो भी बहुतों की दृष्टि से वह अशक्य-सी है। साधक की भूमिका जैसे-जैसे प्रगत होती जायगी, वैसे-वैसे स्थित-प्रज्ञ की व्याख्या का अर्थ भी सूक्ष्म होता जायगा। और इसलिए मनुष्य सहसा ऐसी स्थिति को नहीं पहुँच सकेगा जिसमें वह यह मान सके कि मैं स्थित-प्रज्ञ हो गया। एक दृष्टि से यह जरूरी भी है। जबतक देह कायम है तबतक विकास की गुंजाइश होना वांछनीय है; बल्कि देह का अस्तित्व ही इस बात का एक संकेत समझना चाहिए कि ऐसी गुंजाइश है। टाल्स्टाय के कथनानुसार साधक और उसके ध्येय में इस तरह निरन्तर पकड़ा-पकड़ी का खेल चालू रहने में ही मजा है। साधक को जहाँ यह लगने लगा कि ध्येय को मैंने 'यह पकड़ा' कि तुरन्त

उसने कहा—‘मैं यह खिसका’; और आगे दौड़ गया। इसीमें साधना की प्रतिष्ठा है। अतः साधक के लिए खतरे की घंटी बजा देना हर हालत में उचित ही है। किंतु इससे यह अनुमान अलबत्ते न निकाल लेना चाहिए कि फिर ‘ध्येय-प्राप्ति कभी हो ही नहीं सकती।’ ईश्वर-कृपा से ध्येय-प्राप्ति अवश्य होगी। परन्तु जिस क्षण मनुष्य के मन में यह कल्पना आगई कि अब मैं पहुंच गया, अब मुझे अपने मन को खुला छोड़ देने में हर्ज नहीं है तो उसी क्षण वह प्राप्ति चली गई, खो गई—ऐसा समझना चाहिए। कई बार ऐसा हो जाता है कि तैराक नदी के किनारे पर पहुंचता है, किनारे पर हाथ टेक भी देता है, परन्तु फिर हाथ छूटकर वह पानी में बह जाता है। अतः हाथ का किनारे को छू जाना काफी नहीं है। जब पांव किनारे पर चढ़ जायं तभी समझना चाहिए कि हम पहुंच गये। अतः यह कहना कि ठेठ अंत तक संयम में ढिलाई नहीं चल सकती, साधक के हित में है।

इस तरह संयम की आवश्यकता शुरू से आखिर तक साबित हुई, अर्थात् सोलहों आना साबित हुई। इतना सिद्ध हो जाने पर अब ‘तस्मात्’ शब्द डालने में आपत्ति नहीं—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस् तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

इसमें ‘तस्मात्’—‘इसलिए’ शब्द डालकर शुरू की प्रतिज्ञा को केवल दुहराया है। तर्क-शास्त्र में इसे ‘निगमन’ कहते हैं। शुरू में असली सिद्धान्त बताना, फिर युक्तियों से उसे सिद्ध करना और अन्त में फिर उस प्रतिज्ञा को दोहराना, यह तर्क-शास्त्र की रीति है। इस विधि से शास्त्र का समाधान हो जाता है। यह रेखागणित के क्यू० ई० डी० अर्थात् ‘इति सिद्धम्’ की तरह है। गीता में अक्षरशः तर्कशास्त्र की पद्धति का अवलम्बन नहीं किया गया है। शास्त्र के चौखटे में फंसाकर साधारण मनुष्य की बुद्धि को व्यर्थ ही परेशान करने में उसे रुचि नहीं है। अतः

उसने अपने विवेचन में ऐसी सरल सम्वाद-पद्धति का आश्रय लिया है जिससे साधारण मनुष्य भी समझ सके। फिर भी वह शास्त्र की उपेक्षा नहीं करती है और यह विवेचन तो खास करके संयम की तात्त्विक उपपत्ति बतलाता है, इसलिए शास्त्रीय शैली आवश्यक भी हो गई है। अतः शास्त्र के संतोष के लिए यह एक श्लोक और खर्च किया है। 'यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः' इस श्लोक में जो कहा है, बिलकुल वही यहां दोहराया है। सिर्फ कछुए की उपमा को छोड़कर इस श्लोक का ज्यों-का-त्यों पुनरुच्चार किया गया है। यही निगमन का स्वरूप होता है।

तेरहवां व्याख्यान

१

स्थितप्रज्ञ के लक्षणों के दो विभाग समाप्त हुए। अब तीसरा और अन्तिम विभाग शुरू होता है। पहले चार श्लोकों के विभाग में स्थितप्रज्ञ की व्याख्या और उस व्याख्या का विवरण बताया गया है। मध्यम स्थितप्रज्ञ की स्थिति का विभाग में उसी मिलसिले में तीन श्लोकों में संयम का विज्ञान और सात श्लोकों में संयम का तत्त्वज्ञान खोलकर बताया। अब अंतिम विभाग में स्थित-प्रज्ञ की स्थिति का खुलासा करके उसकी फल-श्रुति कहनी है। तीन श्लोकों की एक त्रिसूत्री में स्थिति का खुलासा होगा और अन्तिम श्लोक में फल-श्रुति कही जायगी।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

यह खुलासे का पहला श्लोक है। इसका अक्षरार्थ इस प्रकार है—
 “जहां प्राणि-मात्र सोते रहते हैं वहां स्थितप्रज्ञ जगता रहता है। और जहां प्राणि-मात्र जगते रहते हैं, वहां स्थितप्रज्ञ मजे में सोता रहता है।”
 खुलासे का पहला सांकेतिक श्लोक। इनकी रात सो उनका दिन, और परन्तु यहां अक्षरार्थ नहीं लेना है, लाक्षणिक उसकी रात सो इनका दिन अर्थ लेना है, यह कहने की जरूरत नहीं। यदि शाब्दिक अर्थ लेंगे तो यह श्लोक स्टेशनमास्टर, चोर, रातपालीवाले मजूर आदि पर घटेगा। गांधीजी ने इस श्लोक का थोड़ा-सा अक्षरार्थ भी दुहने का प्रयत्न किया है।
 “साधारण लोग रात का समय विलास आदि में बिताते हैं और

सुबह सोते रहते हैं, परन्तु संयमी रात में सो जाता है और तड़के ही उठकर मनन-चितन में लग जाता है ।” इस तरह उन्होंने इसका उपयोगी अक्षरार्थ दुह लिया है, परन्तु उन्होंने भी इसके शाब्दिक अर्थ को मुख्य नहीं माना है । वे जानते हैं कि इसका सूक्ष्म व लाक्षणिक अर्थ ही ग्रहण करना है और उन्होंने आगे चलकर अपनी पद्धति के अनुसार वैसा अर्थ किया भी है ।

इस लोक के रूपक के द्वारा स्थित-प्रज्ञ की जीवन-दृष्टि बताई गई है । स्थित-प्रज्ञ की जीवन-दृष्टि में बड़ा फर्क है । जैसे दो समानान्तर रेखाओं का कहीं स्पर्श-बिन्दु ही नहीं होता, वैसी ही स्थिति इन दोनों की जीवन-दृष्टियों की है । स्थितप्रज्ञ की निगाह ही बदल जाती है । मीराबाई ने कहा है—

अर्थात् स्थितप्रज्ञ की कुल
जीवन-दृष्टि ही दूसरों से
उल्टी होती है

‘उलट भई मोरे नयनन की’—ऐसी उसकी हालत हो जाती है । सच पूछिये तो उसकी दृष्टि उलटी नहीं होती, बल्कि वही सुलटी होती है । संसार की ही दृष्टि उलटी है; परन्तु वह बहुसंख्यक लोगों की होने के कारण सुलटी समझी गई है । बहु संख्या को क्यों दोष दें ? इसलिए मीराबाई ने अपनी ही दृष्टि को उलटा कह दिया । सो, जब हमारी जीवन-दृष्टि में ही फर्क हो गया तो फिर जीवन की तमाम क्रियाओं में वह चरितार्थ होता जायगा ।

जैसे खाना शरीर-धारण के लिए आवश्यक है, साधारण मनुष्य खाना खायेगा और स्थितप्रज्ञ भूखा रहेगा सो बात नहीं । स्थित-प्रज्ञ भी भोजन करेगा । दोनों की बाहरी क्रियाएं एक-सी होंगी; परन्तु वृत्ति, विचार व भावना एक-सी न होंगी । स्थित-प्रज्ञ का भोजन मानो एक यज्ञ होगा । वह केवल शरीर-धारण के लिए तटस्थ भाव से किया जायगा । वह उपनिषद् की और शंकराचार्य की भाषा में ‘औषध-रूप’ या गांधीजी की भाषा में ‘जिस घरमें हम रहते हैं उसका भाड़ा देना पड़ता है’ या एक वैज्ञानिक की भाषा में ‘जब यन्त्र से काम लेते हैं तो उसे तेल देना ही चाहिए’—इस तरह का होगा ।

शरीर स्वस्थ और कार्यक्षम रखने के लिए वह उसे आहार देगा। उसमें उसकी भोग-वृत्ति न रहेगी। जबकि और लोगों के भोजन में भोग, आनन्द, मौज-मजा का भाव होगा। उसके लिए कितनी बुद्धि, समय और श्रम खर्च किया जाता है ! कैसा भारी आयोजन व संगठन किया जाता है ! आधा मानव-समाज—सभी स्त्रियां लगभग उसी काम में लगा दी गई हैं। भोजन का इतना बड़ा आडम्बर कर दिया गया है। स्थित-प्रज्ञ का भोजन शास्त्रीय दृष्टि से होगा और उसके मूल में गम्भीर हेतु होगा, जबकि औरों का भोगमय व बालिश होगा।

यही स्थिति नींद की होगी। प्राणि-मात्र को शरीर-धारण के लिए भोजन की तरह नींद भी आवश्यक क्रिया है; परंतु दूसरे प्राणी जब सोते हैं तो आलसी की तरह पड़े भर रहते हैं, उन्हें सपने आते हैं और ज्ञान को भूलते जाते हैं। उनकी एक-एक रात ज्ञान-क्षय

यही बात नींद की है; परन्तु स्थितप्रज्ञ की नींद निर्दोष व निःस्वप्न होती है। उसने एक नींद ली कि उतना उसका विचार-विकास हो गया। यों तो बीज जमीन में छिपा पड़ा रहता है परन्तु वास्तव में वह अंकुरित होता रहता है। जब कल्ला फूटता है तो दिखाई देता है। इसी तरह उसकी नींद में नये-नये विचारों को पोषण मिलता रहता है। इस प्रकार दोनों की नींद में फर्क है। एक की नींद तमोगुण का उत्कर्ष है। तो कहाँ यह नींद और कहाँ वह जिसमें तीनों गुण साम्यावस्था को पहुँच गये हों, मूल प्रकृति में स्थित हो गये हों। यों देखने में दोनों का आकार एक ही-सा दिखाता है; परन्तु इससे क्या !

यही बात साधारण व्यवहार के विषय में भी। मानापमान की नींव पर ही लोगों का बहुत-सा समाज-शास्त्र व नीति-शास्त्र रचा गया है किन्तु इसकी तो मानापमान से जान-पहचान ही नहीं। मनुष्य सहसा कभी भी सहज भाव से खुलकर नहीं बरतता। जहां-

यही बात मामूली
व्यवहार में

तहां शिष्टाचार के नाम पर उसे अपना व्यवहार दम्भ-परिवेष्टित रखना पड़ता है। उसका जीवन सदा पोशाक-पहनाव से ही सजा

रहता है। हर जगह बनावट व ढोंग चाहिए। सभा में एक प्रकार का ढोंग तो समाज में दूसरे प्रकार का, कुटुम्ब में तीसरे प्रकार का, उत्सव में और तरह का, खेल में उससे अलग ढंग का। इस तरह सब जगह ढोंग और ऊपरी सजावट उसके जीवन में रहती है, परन्तु स्थितप्रज्ञ की सभी बातें स्वाभाविक, सरल व खुली होती हैं। इसी तरह उसका साधारण व्यवहार भी दूसरों से बिल्कुल साफ तौर पर उलटा दिखाई देगा।

२

परन्तु यद्यपि हमने गीता के रूपक की भाषा में से इस तरह अपने विचार से अर्थ निकाला तो भी भला स्वयं गीता क्या सूचित करती है?

यहां के रूपक की भाषा में सांख्य-बुद्धि, योग-बुद्धि और स्थितप्रज्ञ के लक्षण तीनों एक में लपेट दिये हैं

देखने में ऐसा मालूम होगा मानो कुछ भी नहीं सुझाती है, सिर्फ रूपक की भाषा बोलकर चुप रह जाती है; पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। स्थित-प्रज्ञ के लक्षण के बाद गीता का दूसरा अध्याय और सूत्र-रूप में गीता भी समाप्त हो जाती है। इसलिए

जो विषय शुरू से विस्तार के साथ बताये, उन सबका समावेश इस श्लोक में किया गया है। पहले तो निर्गुण सांख्यबुद्धि, फिर तदुपकारक सगुण योग्य बुद्धि और अन्त में स्थितप्रज्ञ के लक्षण, जिनमें इन दोनों की परिणति दिखाई देती है—ऐसे तीन विषय अभी तक बताये गए हैं। इन तीनों विषयों का सार गीता इस श्लोक के रूपक द्वारा पेश करती है।

(१) सांख्यबुद्धि का मतलब है आत्मा के स्वरूप का ज्ञान। तो यह ज्ञान प्राप्त कर लेने की झंझट शुरूआत में ही क्यों? इसलिए कि आत्मा का ज्ञान किसी गैर का ज्ञान नहीं है।

सांख्य-बुद्धि का स्वरूप :
आत्मा का अकर्त्तापन,
तदनुसार प्रस्तुत श्लोक का
पहला अर्थ

आत्म कोई गैर नहीं है। वह मैं ही हूं। अतः उसका स्वरूप सबसे पहले जान लेना जरूरी है। गीता कहती है—“आत्मा मरता नहीं, मारता नहीं, मरवाता नहीं।”

मनुष्य का किसी क्रिया से संबंध तीन ही प्रकार से आता है—कर्त्तरि, कर्मणि और हेतुकर्त्तरि अथवा प्रेरक। ये तीनों आत्मा पर लागू नहीं

होते। वह क्रिया का न कर्त्ता है, न कर्म है, न प्रेरक ही। इतना व्यापक अर्थ यहां सूचित है। 'मरना' क्रिया को सिर्फ उदाहरण के तौर पर लिया गया है। इसका अर्थ यह है कि वह सब क्रियाओं से सब तरह अस्पृष्ट है। शांकर-भाष्य में आत्मा के इस अकर्त्ता-स्वरूप का विवरण आईने की तरह साफ किया गया है। आत्मा के अकर्त्तास्वरूप के ज्ञान को प्रकाश कहिये; इसके विपरीत अर्थात् आत्मा को कर्त्ता समझना अंधकार हुआ। इस अंधकार में तमाम प्राणियों का जीवन अन्धा बन गया है, परन्तु स्थितप्रज्ञ का जीवन आत्मा के प्रकाश से नित्य प्रकाशित है। यह प्रस्तुत श्लोक का पहला अर्थ है। साधारण मनुष्य 'मैं फलां कर्म का कर्त्ता' 'मेरे कर्म अच्छे', 'मैं फलां का बेटा', 'फलां सम्पत्ति का मालिक', मेरा यह अन्धकार', 'यह उमर', 'यह जाति', इत्यादि भावनाओं का जाल अपने आस-पास फैलाकर असंख्य कर्मों का बोझ अपने ऊपर लाद लेता है। जबकि स्थितप्रज्ञ यह समझता है कि ये सब मुझपर लागू नहीं होते और सिर्फ 'स्वरूपावस्थान' इस एक ही धर्म को जानता है। इतना दोनों के जीवन में भेद है! तो फिर उसे प्रकाश व अन्धकार न कहें तो क्या कहें?

(२) योग-बुद्धि—आत्मा अकर्त्ता है, इसलिए यदि देह से भी कर्म छोड़ बैठोगे तो तमोगुण में जा पड़ोगे। इसके विपरीत यदि कर्म करोगे तो

रजोगुण में पड़ोगे—ऐसा दुहरा पेच है।

योग-बुद्धि का स्वरूप : अतः गीता ने एक तरकीब निकाली।

फल-त्याग

कर्त्तृत्व जहां जोर मारता हो, वहीं उसे

तोड़ डालो। कर्त्तृत्व जोर कहां मारता है? फल के अवसर पर।

“मैंने काम किया है तो मैं वेतन का अधिकारी हूं!” फल के संबंध में इस तरह कर्त्तृत्व का हक जोर मारता रहता है। अतः फल का अधिकार छोड़ देना ही मानो कर्त्तापन को छोड़ देना है। फलाशा की नोक तोड़ डालें तो फिर कर्त्तृत्व-विषयक अभिमान चला जाता है। गीता कहती है—“तुमने आत्मा का अकर्त्तापन मान लिया है। तब जबकि कर्म ही तुम्हारा नहीं है तो फिर फल कहां से होगा?” ‘मैं देह से भिन्न अकर्त्ता हूं’, ऐसा अभ्यास कर्म छोड़ देने से नहीं हो सकता। फल को छोड़ने से ही होगा। आत्मा के अकर्त्तापन की अनुभूति का आरम्भ कर्मच्छेदन

मे नहीं, फलच्छेद से होता है। इस तरह बिलकुल 'बालोद्यान' पद्धति में अकर्त्तापिन के अभ्यास का पदार्थ-पाठ गीता ने हमें पढ़ाया है। फल को तोड़कर फेंकते जाओ, तो फिर कर्मों को तोड़ फेंकने की जरूरत नहीं रहेगी। समाज-शास्त्र व नीति-शास्त्र के अनुसार तुम्हें फल का अधिकार है, परन्तु तुम तो अब गीता के अनुयायी हुए हो न ? गीता-माता का बालक होने का सौभाग्य तुम्हें प्राप्त हुआ है। अतः उसके बालक के अनुरूप ही फल-त्याग का ऐश्वर्य तुम्हें प्राप्त हुआ है।

गीता का वचन, जो फल को तोड़ डालने की युक्ति बताता है, प्रसिद्ध ही है—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' परन्तु इसका

आनुषंगिक चर्चा—'मा फलेषु' का यह अर्थ कि फल का अधिकार नहीं, गलत है।

अर्थ ठीक नहीं किया जाता। 'तुम्हें कर्म करने का अधिकार है, फल का नहीं।' ऐसा इसका अर्थ किया जाता है। परन्तु जब यह पूछते हैं कि यदि कर्म का अधिकार है तो फिर फल का क्यों नहीं ? तो इसका

उत्तर दिया जाता है कि फल पाना मनुष्य के हाथ की बात नहीं है। वह अनेकविध बाहरी परिस्थितियों पर अवलम्बित है, अर्थात् यह दैववाद हुआ। इसमें बिलकुल ही तथ्य न हो सो बात नहीं, परन्तु उससे यहां प्रदर्शित विचार सिद्ध नहीं हो सकते। क्योंकि यदि और जिस कारण से, फल पाना मनुष्य के हाथ में नहीं है, तो और उसी कारण से, कर्म भी मनुष्य के हाथ में नहीं है। दोनों अनेकविध बाह्य परिस्थितियों पर अवलम्बित रहते हैं। जो बात फल के विषय में है वही कर्म के विषय में भी है। यदि कर्म का अधिकार है तो फल का भी है। भले ही परिपूर्ण न हो, आंशिक ही हो, पर है जरूर। यदि फल का अधिकार नहीं है तो फिर कर्म का भी नहीं हो सकता। अतः यह अर्थ हमारे काम का नहीं है।

तो फिर इस वचन का सही अर्थ क्या है ? इसके लिए जरा संस्कृत के व्याकरण पर ध्यान देना होगा। यहां 'मा फलेषु' कहा है, 'न फलेषु'

फल का अधिकार तो है, पर उसे छोड़ देना है

नहीं। व्याकरण के अनुसार 'मा' के बाद 'अस्ति' या 'भवति' ऐसी वर्तमानकालीन क्रिया नहीं आती। 'अस्तु' या 'भवतु'

ऐसा रूप आता है। तदनुसार 'कर्मणि एव ते अधिकारः अस्तु, फलेषु मा अस्तु।' इस तरह पूरा वाक्य बनता है। उसका अर्थ है 'कर्म का ही तुम्हे अधिकार रहे, फल का नहीं।' परन्तु व्याकरण के अनुसार यद्यपि हमने ऐसा अर्थ-शोधन किया तो भी आखिर कहना क्या है? यह कि "कर्म का अधिकार है, अतएव फल का भी है, लेकिन तू कर्म का अधिकार तो रख, परन्तु फल का छोड़ दे।" यह क्यों? तो गीता कहती है कि तुम्हारा तत्त्वज्ञान ही यह बताता है कि मैं कर्त्ता नहीं हूँ। अतः यदि तुम्हें अपने अकर्त्तापन का अनुभव करना हो, तो तुम फल को ग्रहण मत करो।

इस विषय में स्थितप्रज्ञ की व औरों की भूमिका में बड़ा अन्तर है। साधारण लोगों की भूमिका यह कहती है—

नीति-शास्त्र की भूमिका : कर्हंगा, नहीं तो कर्म ही छोड़ दूंगा। लूंगा तो फल के सहित लूंगा, छोड़ूंगा तो कर्म के सहित छोड़ूंगा। इतना ही होता तो गनीमत थी; परन्तु कितने ही लोग तो

इससे भी आगे चले आने को तैयार हैं। 'कर्म किये बिना ही फल मिल जाय तो बहुत बेहतर, नहीं ही मिले और कर्म किसी प्रकार ढाला ही न जा सके तो करेंगे; परन्तु फल तो किसी भी दशा में नहीं छोड़ने के।' ऐसी हीन वृत्ति से ही आज का सारा संसार भरा हुआ है। खुद मिहनत किये बिना दूसरों की मिहनत का फायदा कैसे उठा ले, इसकी योजना दो-चार बदमाश ही नहीं, बल्कि पूरे राष्ट्र-के-राष्ट्र बना रहे हैं। नात्सीवाद, फासिस्टवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद—इस तरह के अनेक मुफ्तखोरे वाद इस हीन वृत्ति का समर्थन करने के लिए रचे गए हैं। यह बात नहीं कि यह हालत आज ही हुई हो। आज इसका जोर ज्यादा है। प्राचीन काल से लेकर आज तक यह प्रायः अखण्ड चली आ रही है। यही कारण है जो गीता ने सारा सोलहवां अध्याय इस वृत्ति का निषेध करने के लिए, उसे आसुरी वृत्ति नाम देकर, लगा दिया है। इस तरह एक कर्म करे और दूसरा उसका फल उड़ावे, ऐसी परिस्थिति समाज में होने के कारण 'जिसका कर्म, उसीका फल' इतना भी पार पड़ जाय तो

गनीमत समझिये—इस प्रकार की भूमिका नीति-शास्त्र व समाज-शास्त्र की है। इसलिए समाज-शास्त्र व नीति-शास्त्र इस बात पर जोर देते हैं कि समाज में योग्य व्यक्ति की ही प्रतिष्ठा हो, योग्य मनुष्य को ही फल मिले। और समाज में रूढ़ हुई वृत्ति का तथा इन दो शास्त्रों के सीमित क्षेत्र का विचार किया जाय, तो उनकी यही भूमिका होनी उचित भी है।

परन्तु गीता की भूमिका इससे ऊँची है। इस वजह से किसीको वह निरूपयोगी मालूम होती तो भले हो, परन्तु जैसी है वैसी ही उसे समझ लेनी चाहिए। गीता कहती है—“कर्त्तापिन के अभिमान से छूटने के लिए फल को अपने से अलग कर दे, ईश्वर को अर्पण कर दे, समाज को दे दे, चाहे तो हवा में फेंक दे, परन्तु तू खुद उसे मत ले। किसीके कहने से नहीं, बल्कि इसलिए कि तेरा तत्त्वज्ञान ही इस विषय में बाधक होता है। तेरा तत्त्वज्ञान कहता है कि आत्मा से किसी क्रिया का संबंध नहीं है। और आत्मा को क्रिया का स्पर्श न होने देने की तरकीब है फल को छोड़ देना।” यह तत्त्वज्ञान ही गीता के कर्म-योग की बुनियाद है। बहुत-से लोग कहते हैं कि गीता के आरम्भ में यह तत्त्वज्ञान फिजूल डाल दिया। पहले कर्मयोग बताना चाहिए था। परन्तु यह खयाल गलत है। गीता का कर्मयोग आत्म-ज्ञान की नींव पर ही खड़ा हो सकता है। वह केवल कर्म करने के लिए नहीं कहता, बल्कि फल छोड़ने के लिए कहता है। यदि आत्म-ज्ञान-संबंधी भाग उसमें से निकाल डालें तो फिर फल-त्याग का तत्त्व टिक ही नहीं सकता। कर्म-त्याग पूर्णरूप से सम्भव नहीं; क्योंकि मैं यद्यपि आत्मस्वरूप हूँ तथापि वर्तमान स्थिति में शरीर से घिरा हुआ हूँ। दूसरी ओर, फलयुक्त कर्म का हिसाब ठीक नहीं बैठता, क्योंकि ‘मैं अकर्त्ता हूँ’ यह भावना दृढ़ है। देह की बदौलत कर्म छूटता नहीं और हमारे अपने तत्त्वज्ञान के कारण फलयुक्त कर्म का हिसाब बैठता नहीं। इस तरह इन दोनों ओर की कठिनाइयों में से गीता ने फलत्याग-पूर्वक कर्म-योग की युक्ति खोज निकाली है। चाहिए तो इसे

योग-बुद्धिकी भूमिका उससे
ऊँची : तदनुसार इस श्लोक
का दूसरा अर्थ

‘मुरारेः तृतीयः पन्थाः’ कहिये । रेखागणित के प्रमेयों से जैसे उपप्रमेय निकलता है ठीक उसी तरह बिलकुल तर्क-शुद्ध रीति से आत्मा के अकर्त्तापन में फल-त्याग का सिद्धांत फलित होता है । तो इस कर्म-योग की दृष्टि से हम ‘या निशा सर्वभूतानाम्’ इस श्लोक की ओर देख सकते हैं; और इस तरह देखें तो फिर इस श्लोक का ऐसा अर्थ निकलता है—“दूसरे लोग फल के प्रति जागरूक रहते हैं और अपने कर्त्तव्य के प्रति सोते रहते हैं; किन्तु स्थितप्रज्ञ सिर्फ फल के प्रति सोता है और कर्त्तव्य के विषय में जाग्रत रहता है ।” यह इस श्लोक का दूसरा अभिप्रेत अर्थ है ।

(३) स्थितप्रज्ञ के लक्षणानुसार इसका एक तीसरा भी अर्थ है । वस्तुतः तीनों अर्थ मूल में समान व एक ही हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न भूमिकाओं से भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं ।

स्थितप्रज्ञ के लक्षणानुसार इन्द्रिय-निरोध को स्थितप्रज्ञ का लक्षण इस श्लोक का तीसरा अर्थ बताते हुए यह सिद्ध किया है कि भोगवाद से बुद्धि-नाश होता है और बुद्धि स्थिर होने के लिए संयम की आवश्यकता है । उसके अनुसार यहां स्थितप्रज्ञ भोगों के प्रति सोया हुआ और संयम के विषय में जागरूक, और साधारण मनुष्य संयम के प्रति सोया हुआ व भोगों के विषय में जाग्रत—यह अर्थ करना उचित है ।

इस तरह गीता के इस रूपक द्वारा ये तीन अर्थ सूचित किये गये हैं, ऐसा समझना चाहिए । जब यह देखते हैं कि इस सूचना की कुछ ध्वनि या संकेत इस श्लोक में मिलते हैं गीता के श्लोक में बताये गये तीनों अर्थों के संकेत या नहीं, तो ‘पश्यन्’ ‘मुनि’ और ‘संयमी’ ये तीन शब्द हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं । ‘पश्यन्’ शब्द से सांख्यबुद्धि-निष्ठ आत्मज्ञानी, ‘मुनि’ शब्द से योगबुद्धि-निष्ठ कर्मयोगी, और ‘संयमी’ शब्द से उभय-बुद्धि-सम्पन्न स्थितप्रज्ञ, जिसका प्रसंग यहां चल रहा है, ये अर्थ समझने में आते हैं और यह निष्कर्ष निकलता है कि ये तीन अर्थ विशेष रूप से यहां सुझाने थे । परन्तु इस रूपक का सामान्य अर्थ तो यह है कि स्थितप्रज्ञ

व साधारण मनुष्यों की जीवन-दृष्टियां ही बिलकुल भिन्न होती हैं; इसलिए इन तीन विशिष्ट अर्थों को ही न लेकर कुछ मिलाकर सर्व-जीवन-व्यापी अर्थ भी लिया जा सकेगा और वही मैंने आरम्भ में लिया भी था । गहराई से देखें तो ऐसा ही दिखाई देगा कि ये तीन विशिष्ट अर्थ हैं भी जीवन-व्यापी ।

चौदहवां व्याख्यान

१

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत् कामाः यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

आज के श्लोक में स्थित-प्रज्ञ का वर्णन एक और तरह से किया है। पहले हम श्लोक को समझ लें—‘आपूर्यमाणं अचलप्रतिष्ठं समुद्रं खुलासे का दूसरा सांकेतिक श्लोक। ज्ञानी समुद्र की तरह सब काम पचा जाता है

यद्वत् आपः प्रविशन्ति, तद्वत् सर्वे कामाः यं प्रविशन्ति, स शान्तिं आप्नोति’ यह एक वाक्य है। ‘नकामकामी’ दूसरा वाक्य। ‘आपूर्यमाणम्’ का अर्थ है सब तरफ से सतत भरता रहने वाला। इतना होकर भी जो अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता, अपनी प्रतिष्ठा से चलित नहीं होता। ‘आपूर्यमाणं अपि, अचल-प्रतिष्ठम्’ ऐसा ‘अपि’ शब्द का अध्याहार करना है। “समुद्र जिस तरह चारों ओर से आनेवाला पानी अपने अन्दर समा लेता है फिर भी अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करता, उसी तरह स्थितप्रज्ञ अनेक कामों के चारों ओर से उसके अन्दर प्रवेश करते रहने पर भी विचलित नहीं होता, इस-लिए वह शान्ति-लाभ करता है। “जो कामों के पीछे दौड़ता है उसे वे प्राप्त नहीं होते।” ऐसा इस श्लोक का अक्षरार्थ है। श्लोक है तो बड़ा छटादार, परन्तु समझने में जरा कठिन है।

यहां पहले ‘काम’ शब्द के अर्थ का विचार करना चाहिए।

‘काम’ शब्द के अर्थ की

छानबीन

‘काम’ शब्द का प्रयोग स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में एक जगह एकवचन में हुआ है और दूसरी जगहों पर बहुवचन में। ‘संगात् संजायते कामः’ यहां ‘काम’ शब्द एकवचन में आया है। इस काम का

अर्थ है मूल विकार। इस मूल काम से अवान्तर कामनाएं उत्पन्न होती हैं। इस एकवचनी काम के लिए हिन्दी में दूसरा शब्द नहीं है, अतः वह उसी शब्द से दर्शाया जायगा। बहुवचनी 'काम' शब्द बिल्कुल शुरू में 'प्रजहाति यदा कामान्' यहां और अन्त में 'विहाय कामान् यः सर्वान्' यहां एक ही तरह से आया है। इन दोनों स्थानों पर उसका अर्थ कामना लेना है। ये कामनाएं मनोगत होने के कारण उनका त्याग शक्य है, इष्ट है। वह अवश्य करना चाहिए। यह कहा गया है कि स्थितप्रज्ञ वैसे उनका त्याग कर चुका है इसके अलावा दूसरे प्रकार से बहुवचनी 'काम' शब्द इसी श्लोक में आया है। 'कामाः यं प्रविशन्ति।' जिसके विषय में कामना की जाय सो काम, ऐसी व्युत्पत्ति लगाकर उसका अर्थ यहां होता है बाह्य विषय, उपभोग्य पदार्थ, विषय-भोग। इस अर्थ में 'काम' शब्द उपनिषद् में भी आया है। 'ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके' अर्थात् 'जो-जो विषय-भोग इस जगत् में दुर्लभ हैं वे सब मैं तुम्हें देता हूं', ऐसा प्रलोभन यम ने नचिकेता को दिया है। इस वाक्य में काम शब्द का अर्थ 'बाह्य उपभोग्य विषय' है। यही अर्थ प्रस्तुत वाक्य में भी है। कुल मिलाकर मूल विकार 'काम', मनोगत 'कामना' और तदाधारभूत बाह्य विषयों के 'भोग'—इस तरह काम शब्द के तीन मुख्य अर्थ हैं। बाह्य विषयों को कामना के आधारभूत कहने का कारण यह कि उनके आश्रय से मन में कामना जाग्रत होती है। ये विषय ही मन में कामना उत्पन्न होने के लिए कारण होते हैं सो बात नहीं। वे कामना के निमित्त बनते हैं। अनेक जन्मों के पूर्व कर्म, अनेक नये व पुराने अनुभव और उनसे उत्पन्न संस्कार, ये हमारे मन की कामनाओं के मूल कारण हैं। इन्हींकी बदौलत इन बाह्य पदार्थों को उपभोग्यत्व अथवा विषयत्व प्राप्त होता है।

समुद्र में जिस प्रकार चारों ओर से पानी एक-सा आना रहता है उसी तरह विश्व के अनंत विषय स्थितप्रज्ञ के समीप आते ही रहते हैं। आंख के सामने आंख के विषय, कान के सामने कान के विषय खड़े रहते हैं; परन्तु समुद्र जिस तरह तमाम पानी को अपने स्वरूप में ग्रहण करके आत्मसात् कर लेता है, उसी तरह स्थितप्रज्ञ सारे विषय-भोगों को अपने

स्वरूप में मिला लेता है। आंखों को जो रूप दिखाई देगा, कानों में जो शब्द पड़ जायगा और इसी तरह दूसरी इन्द्रियों को उनके जो-जो विषय प्राप्त होंगे उन सबको वह आत्म-स्वरूप में लवलीन कर डालता है, मन पर उनका कुछ भी असर नहीं होने देता। अनुकूल व प्रतिकूल वेदना के रूप में बाह्य विषयों का असर मन पर होता रहता है। इसे मन का धर्म कहिये, विषय का कहिये या मन व विषय दोनों का मिलाकर कहिये, मुख्य बात यह कि इन विषयों को मिटाना संभव नहीं है। यदि हम यह तय करें कि हमारे संयम के लिए तमाम बाह्य विषय मिटा दिये जायं तो फिर सारे संसार का ही लय कर देना होगा, सो संभवनीय नहीं। उसकी जरूरत भी नहीं। बाहर के विषय इन्द्रियों के द्वारा प्रवेश करते रहते हैं, तो भी स्थितप्रज्ञ के चित्त पर उनका प्रभाव नहीं पड़ता। उसकी स्थिति अडोल रहती है। इस तरह यहां स्थितप्रज्ञ पुरुष का वैभव बताया गया है। उसे बाह्य विषयों का त्याग नहीं करना, बल्कि हृदयस्थ काम-नाओं को मिटा देना है और उन्हें वह छोड़ ही चुका है। उसे किसी भी विषय से दूर रहने की जरूरत नहीं। तमाम विषयों के बाजार में भी यदि उसे लाकर खड़ा कर दिया जाय तो भी वह अपनी स्थिति से डिगता नहीं। इसपर नीति-शास्त्र हमसे पूछेगा कि क्या उसका ग्राह्याग्राह्य-विवेक अथवा नीति-विचार नष्ट हो जाता है? उसका उत्तर यह है कि यह श्लोक इसलिए नहीं लिखा गया कि कौन-सा विषय ग्रहण करें व कौन-सा छोड़ें, इसका नीति-शास्त्र बतावें; इसमें तो ज्ञान की महिमा का बखान किया गया है, ज्ञानी पुरुष का गौरव गाया गया है।

२

स्थितप्रज्ञ की अविचल स्थिति का वर्णन दो तरह से किया जा सकता है : एक ओर उसके समीप अत्यन्त परिशुद्ध कर्म भी असंभव और दूसरी ओर निषिद्ध कर्म भी संभव; एक ओर सब शुभाशुभ कर्मों का संन्यास, तो दूसरी

ज्ञान के गौरव और ज्ञान के स्वरूप के बीच में उसका नीति-सूत्र है

और सब शुभाशुभ कर्मों का योग—ऐसी दोनों सिरों की अवस्थाएं बताकर स्थितप्रज्ञ का वर्णन किया जा सकता है। एक ओर यह कहा जायगा कि ज्ञानी कुछ भी नहीं करता है। वह हाथ तक नहीं हिलाता, यहां तक कि अच्छे कर्म भी नहीं करता। इसके विपरीत यह भी कहा जा सकेगा कि वह त्रिभुवन को आग लगा सकता है। फिर भी इन दोनों कथनों में विरोध न होगा। यही उसकी भूमिका की खूबी है। विचारकों के ऐसे परस्पर-विरुद्ध प्रतिपादन में यह खूबी दिखाई देती है। उदाहरणार्थ, श्रीशंकराचार्य प्रसिद्ध मुक्तिवादी अतएव सर्वकर्म-संन्यासवादी थे। उनका कहना था कि ज्ञानी से कर्म हो ही नहीं सकता; परन्तु वही अपने भाष्य में कहते हैं—“ज्ञानी समस्त कर्मों—निषिद्ध कर्मों—को भी करके अकर्ता रहता है।” ‘सर्वकर्माण्यपि, निषिद्धान्यपि, कुर्वाणः।’ यदि नीति-शास्त्र भाष्यकार से आग्रहपूर्वक प्रश्न करे कि क्या ज्ञानी सचमुच कोई निषिद्ध कर्म करेगा? तो वे उत्तर देंगे कि यहां मैं नीति-अनीति की चर्चा नहीं कर रहा हूं, ज्ञान का गौरव बता रहा हूं। यदि यह पूछोगे कि ज्ञानी क्या करेगा तो मेरी दृष्टि से वह शुद्ध अथवा अच्छे कर्म भी नहीं करेगा। वह कुछ भी नहीं करता। कोई हिलना-डोलना तक नहीं; परन्तु इस पर भी नीतिशास्त्र उनसे कहेगा कि आप तो ठेठ दूसरे सिरों पर जा पहुंचे। इसका उत्तर वे देंगे—“भैया, मैंने यह ज्ञानी का नीति-सूत्र नहीं बताया, उसके ज्ञान का स्वरूप बताया है।” अर्थात् एक ओर ज्ञान का गौरव बताया और दूसरी ओर ज्ञान का स्वरूप। स्थितप्रज्ञ के ज्ञान का स्वरूप यह कि वह कोई भी कर्म नहीं करता। उसके ज्ञान का गौरव यह है कि निषिद्ध कर्म भी उसे बाधक नहीं होते। स्थितप्रज्ञ के ज्ञान के स्वरूप और ज्ञान के गौरव के बीच में स्थितप्रज्ञ का नीति-सूत्र रहता है।

बीच में अर्थात् कहां? इसका निश्चित उत्तर देना अलवत्ता कठिन होगा। समाज जैसे-जैसे ऊंची भूमिका पर चढ़ता जायगा वैसे-वैसे समाज के ज्ञानी मनुष्यों के विचार भी ज्यादा गहरे जाते जायेंगे। कुल मिलाकर समाज का अनुभव

बीच में, अर्थात् कहां? यह तत्कालीन समाज की भूमिका पर अवलम्बित रहेगा

जैसे-जैसे बढ़ता जायगा, वैसे-वैसे स्थितप्रज्ञ की प्रज्ञा भी अधिक स्पष्ट होती जायगी। अर्थात् अनासक्ति में, अक्षरशः और व्यवहारतः कौन-कौन से कर्म समा सकेंगे, इसका मापदण्ड भी उत्तरोत्तर भिन्न होता जायगा। यदि पहले से आज समाज की अधिक प्रगति हुई होगी, तो पहले के स्थितप्रज्ञों की अपेक्षा आज के स्थितप्रज्ञ अधिक प्रगट होंगे। ऐसा कहना है तो बड़े साहस का काम, परन्तु विचार के अन्त में दिखाई देगा कि वही यथार्थ है। स्थितप्रज्ञों को भी प्रगति की यह भाषा स्थूल अर्थ में ही ग्रहण करनी चाहिए। अर्थात् वह व्यावहारिक है, आन्तरिक नहीं। सब स्थितप्रज्ञों की आन्तरिक कसौटी एक ही रहेगी। उनकी आत्मस्थिति कभी भंग न होगी, सदा अविचलित रहेगी; यही वह कसौटी है। अब उनके कर्म करने का नीति-सूत्र इस ढंग का होगा जिससे इस कसौटी में कोई गड़बड़ न हो। यह बात उन्हें खुद अपने ही अनुभव से मालूम होती जायगी। उसे सब लोगों के समझने लायक सुनिश्चित भाषा में हमेशा के लिए प्रकट करना असंभव है।

अनुभव का आधार छोड़कर कल्पना से ही काम चला लेने से स्पष्टता होने के बजाय उलटा भ्रम पैदा होगा। इसका उदाहरण कितने ज्ञानी के नीति-सूत्रों के ही भक्ति-मार्गी और कर्मयोगवादी लोगों संबंध में प्रांथिक कल्पना के विवेचनों में मिलता है। भक्ति-मार्ग अनर्थकारक वाले तो यहां तक आगे बढ़ गये हैं कि उन्होंने श्रीकृष्ण को व्यभिचारी मान लिया। अलबत्ते यह उनकी श्रीकृष्ण पर मेहरबानी है जो उन्होंने उन्हें 'अलिप्त' माना है। अब कहना हो तो भले ही कहिये कि उन्होंने श्रीकृष्ण की अनासक्ति में उनका तथाकथित व्यभिचार भी समा गया मानकर, अपने भक्ति-भाव की उत्कटता प्रकट की है। इसी तरह कुछ कर्मयोगवादी प्रतिपादन करते हैं कि 'सब भूतों में भगवद्भाव' रखनेवाला स्थितप्रज्ञ जबरदस्त हिसात्मक लड़ाइयां भी लड़ सकता है। इसमें भी उन्होंने स्थितप्रज्ञ का नीति-सूत्र बताने की अपेक्षा अपनी कल्पना का वैभव ही प्रकट किया है। एक के लिए भागवत का आधार मिल गया तो दूसरे के लिए महाभारत का। बिना आधार के तो कोई कुछ कहता ही नहीं;

परंतु आधार होना चाहिए आज की समाज-स्थिति में इस क्षण के प्रत्यक्ष स्वानुभव का। इस अनुभव के बल पर जो-कुछ कहा जायगा वही यथार्थ समझा जायगा, और वह भी इसी काल के लिए। भविष्य-काल के लिए वह बन्धनकारक नहीं हो सकता; परन्तु यदि स्थितप्रज्ञ का जैसा आन्तरिक लक्षण हमने तीनों काल के लिए ढूँढ़ निकाला, वैसा ही यदि त्रिकालिक नीतिसूत्र बताना हो तो 'या निशा सर्वभूतानाम्' इस श्लोक के अनुसार बताना होगा—अर्थात् विवेक उसका नीति-सूत्र होगा।

३

इस श्लोक के अर्थ के विषय में कुछ लोगों को तो भीति मालूम होती है और कुछ को विशेष प्रीति। नीति-निष्ठों को यह भीति मालूम होती है कि इस श्लोक में एक विचित्र नीति-सूत्र बताया गया है जिसके अनुसार यदि स्थितप्रज्ञ चलने लगे तो नीति ही उड़ जायगी। दूसरी ओर कितने ही लोगों को उससे इसलिए प्रीति होती है कि एक बार स्थितप्रज्ञ हो जाने से फिर समुद्र की तरह हर बात को अपने में समा सकेंगे, आचार-व्यवहार में कोई रोक-टोक न रहेगी। पर सच पूछिये तो यहां न भीति के लिए कोई गुंजाइश है और न प्रीति के लिए; क्योंकि हम अभी देख चुके हैं कि स्थितप्रज्ञ में सब विषय-भोगों के प्रविष्ट होते हुए भी वह तटस्थ रहता है—इस कथन के द्वारा स्थितप्रज्ञ के लिए कोई नीति-सूत्र नहीं, बल्कि उसकी आत्मस्थिति का गौरव बताया गया है; परन्तु उसकी अपेक्षा भी भिन्न दृष्टि से इस श्लोक की ओर देखा जा सकता है। यह तो सत्य ही है कि इसमें स्थितप्रज्ञ का नीति-सूत्र नहीं, बल्कि गौरव बताया गया है; परन्तु इसकी अपेक्षा भी उसमें मुख्यतः उसकी भाव-दृष्टि बताई गई है। स्थितप्रज्ञ तो एक ही है, परन्तु उसकी भूमिकाएं अलग-अलग होती हैं। एक उसकी कर्मयोग की भूमिका, दूसरी ध्यान-भूमिका। कर्मयोग वाली भूमिका का आचार-सूत्र 'या निशा सर्वभूतानाम्' इस श्लोक में बताया गया है। इसमें उसकी जाग्रत विवेक-शक्ति का वर्णन है। उसे सत् व असत् का निरन्तर भान रहता

है और सत् को ग्रहण करके असत् का निराकरण करना, उसके कर्मयोग-काल की भूमिका होती है। परन्तु समुद्र की उपमा वाले इस श्लोक में उसका ध्यान-योग की भूमिका का भाव बताया गया है। यहां उसकी भावना की व्यापकता व भव्यता का दर्शन है। उसकी विशाल व उदार दृष्टि के विस्तार में सारा विश्व समा जाता है। उसकी दृष्टि में सभी शुभ, सभी पावन, सभी मंगल दिखाई देता है।

वस्तुतः संसार में अशुभ का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। अशुभ शुभ के सहारे से आता है। अशुभ शुभ की छाया है। छाया से वस्तु का वस्तुत्व नहीं मिटता। उसमें कोई फर्क भी नहीं आता। उलटा वस्तु स्पष्ट दीखती है। सफेद कागज पर यदि बिना रंग के

चित्र बनाने लगे तो वह बन ही नहीं सकेगा। कागज कोरा-का-कोरा रह जायगा। केवल शुभ अव्यक्त ही रहेगा, वह साकार नहीं होगा। ईश्वरीय योजना में शुभ को स्पष्ट दिखाने के लोभ से अशुभ का प्रादुर्भाव हुआ। मनुष्य की छाया का कुछ भी मूल्य नहीं। इस जेल में ५० कैदी हैं। उनकी पचास, सौ या डेढ़ सौ छायाएं पड़ सकेंगी; परन्तु इसलिए कोई कैदियों की 'गिनती' करते समय सौ, डेढ़ सौ या दो सौ नहीं गिनता, क्योंकि छाया की कोई सत्ता नहीं। अर्थात् वह अभाव-रूप ही है। अन्धकार का वर्णन करते समय हम उसे प्रकाश का अभाव कहते हैं, प्रकाश को अन्धकार का अभाव नहीं कहते। अन्धकार कोई वस्तु नहीं है, प्रकाश वस्तु है। प्रकाश को दिखाने के लिए अन्धकार काम आया। अशुभ का कार्य शुभ का रूप दिखाना बस इतना ही है। अतः स्थितप्रज्ञ उससे नहीं डरता। उससे उसकी वृत्ति का मांगल्य नहीं बिगड़ता; बल्कि अशुभ का शुभ पर उपकार ही हुआ, उसने शुभ को प्रकट किया, उसमें उठाव—स्पष्टता ला दी, इसी दृष्टि से वह उसे देखता है। उसकी सर्व-संग्राहक भावना को सारा शुभ-अशुभ विश्व स्वीकार्य ही लगता है या यों कहें कि उसकी दृष्टि को शुभ-अशुभ मिलाकर शुभ ही दीखता है। गणित की भाषा में उसका दर्शन उस तरह कराया जा सकता है—
 $\text{शुभ} + \text{अशुभ} = \text{शुभ}$; क्योंकि $\text{अशुभ} = 0$; तो फिर इस शून्य की

आवश्यकता ही क्या है ? यह चाहिए किसलिए ? इसलिए कि उसकी बदौलत सारा गणित-शास्त्र बन पाया । शून्य की चाहे कुछ भी कीमत न हो तो भी एक पर शून्य रखने से दस हो जाते हैं । उसकी सन्निधि में एक की प्रभा फैल जाती है । इस तरह शुभ शोभा को खिलाकर मानो अशुभ भी सुशोभित हो गया है !

यह मानकर कि यह तत्त्वज्ञान तो बड़ा सुविधाजनक है, अशुभ के लोभ से जो शुभाशुभ-मिश्रण को स्वीकार कर लेंगे, वे मानो अपनी आत्महत्या ही करेंगे । अशुभ-मिश्रित शुभ अशुभ मिथ्या, साधना मिथ्या, भी अशुभ ही है । विष-मिला अन्न भी अशुभ का मरण मिथ्या । विष ही है । अतः जो यह कहता है कि केवल एक शुभ सत्य : यह है नीति-शास्त्र शुभाशुभ के मिश्रण पर खड़ा भावावस्था करना चाहिए, मानो उसने आत्मनाश की

ही तैयारी कर ली । स्थितप्रज्ञ की दृष्टि ऐसी नहीं । वह अशुभ को शुभ के रूप में ग्रहण नहीं करता । अशुभ का मोह उसे नहीं । यह हमने देख ही लिया कि अपनी कृतियों में वह शुभाशुभ-विवेक को कभी नहीं छोड़ता; परन्तु उसकी कृति व दृष्टि में अन्तर होता है । उसकी जगत्-विषयक दृष्टि ऐसी रहती है कि उसे जगत् में अशुभ का दर्शन ही नहीं होता । अच्छों के साथ बुरों को भी वह कहता है—“तुम सब आओ । सब मेरे ही तो हो !” यदि वे कहें कि हम तो अशुभ हैं, तो वह उन्हें कहेगा—“तुम अपनेको अशुभ कहते हो, पर वस्तुतः अशुभ नहीं हो । कहो कि हम अशुभ नहीं हैं ।” फिर भी जिनका यही आग्रह है कि ‘हम तो अशुभ हैं’ उन्हें वह पावन कर लेता है । उसकी पावन दृष्टि से अशुभ को शुभत्व प्राप्त हो जाता है । अशुभ एक भ्रम है । भूत या हौवे की तरह अशुभ की स्थिति है । शिक्षक लड़के से कहते हैं—न कहीं भूत है न हौवा, परन्तु लड़के की समझ में नहीं आता । घर आकर वह मां से कहता है—देख, वह हौवा दीखता है न, नहीं कैसे ? तब मां कहती है, अच्छा, ले, मैं उसे मंत्र से मारकर भगा देती हूँ । लड़का समझता है कि मां ने हौवे को मार डाला । उसको तसल्ली हो जाती है । ज्ञानी कहता है, तुम सब शुभ हो, शुद्ध हो । तुममें कोई दोष नहीं, बिगाड़ नहीं, तुम्हें

कुछ नहीं हुआ। तब भी जो कहते हैं कि हम तो खराब हैं, तो उन्हें वह कहता है—अच्छा, मैं तुम्हें मंत्र बताता हूँ, साधन बताता हूँ; परन्तु वह केवल हौवे को मार डालने-भर के लिए। अशुभ मिथ्या, साधना मिथ्या, अशुभ का मरण भी मिथ्या, केवल एक शुभमात्र सत्य। जिसकी दृष्टि ही ऐसी बन गई कि संसार में शुभ के सिवा कुछ भी नहीं है, उसे शान्ति प्राप्त होती है—यह क्या शब्द द्वारा बताने की जरूरत है !

पन्द्रहवां व्याख्यान

१

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

‘सब कामना छोड़कर जो पुरुष निःस्पृह होकर विचरता है, जिसकी अहंता व ममता चली गई है, वह शांति-रूप ही हो गया ।’ यह स्थित-प्रज्ञ-प्रकरण का उपसंहार-वाक्य है । स्थित-स्थितप्रज्ञ-लक्षणों का उप-प्रज्ञ के लक्षणों की शुरुआत कामना-त्याग से संहार । स्थितप्रज्ञ को कोई की गई है । यहाँ उसका उपसंहार भी कामना-कामना नहीं, जिजीविषा त्याग से ही किया है । ‘सब कामना छोड़-नहीं कर जो निःस्पृह हो जाता है, उसे शान्ति मिलती है’, यह अन्तिम वाक्य है । स्पृहा का अर्थ है वासना किंवा कामना । सो तो छोड़ ही चुके हैं । तो फिर अब और निःस्पृह कहने से क्या मतलब ? जब सब कामनाएं छोड़ दीं तो फिर स्पृहा भी छोड़ दी । तब ‘निःस्पृह’ शब्द क्यों लाया गया ? “जिसने सब कामनाएं छोड़ दी हैं और फिर स्पृहा भी छोड़ दी है” ऐसा कहने में पुनरुक्ति नहीं है । ‘स्पृहा’ के द्वारा यहाँ मूल ‘अभिलाषा’ अर्थात् जीने की अभिलाषा व्यक्त की गई है । उसका विशेष उल्लेख ब्राह्मण-परिव्राजक-न्याय से किया गया है । यजमान ने ब्राह्मणों को निमंत्रण दिया । भोजन के समय पूछा, “सब ब्राह्मण आ गये न ?” जवाब मिला—“हां, सब आ गये ।” फिर पूछा—“वे संन्यासी भी ?” जवाब—“हां, वे भी आ गये ।” ब्राह्मणों में संन्यासी आ ही गये; परन्तु संन्यासियों का विशेष महत्त्व होने से स्वतन्त्र रूप से पृच्छा की, अतः इसे ब्राह्मण-परिव्राजक-न्याय कहते हैं । इस न्याय से यह शब्द यहाँ आया है । यह कहते ही कि

उसकी सब कामनाएं छूट गई, पूछा—“सब कामनाएं छूट गई हैं तो जीवन-विषयक कामना भी छूट गई न ?” उत्तर मिला—“हां।” विशेष रूप से उल्लेख करने का कारण यह कि अवान्तर सब कामनाएं छोड़ देने पर भी जीने की वासना कायम रह सकती है। अतः एव बताया कि ‘वह उसे भी छोड़ चुका होता है।’

‘जीने की इच्छा छोड़ता है’, इसका अर्थ क्या यह है कि मरने की इच्छा रखता है ? नहीं, जीने की इच्छा के साथ ही मरने की इच्छा भी छोड़ देता है। तो कहते हैं—क्या मरने की भी इच्छा किसीको होती है ? इसका उत्तर यह है कि कभी-कभी होती है। हम मनुष्यों को आत्म-हत्या करते देखते हैं। स्थितप्रज्ञ जीवन से ऊबा हुआ नहीं होता। जीने की इच्छा के साथ ही वह मरने की अभिलाषा भी छोड़ देता है; पर इसका अर्थ यह नहीं कि सारे जीवन ही के प्रति उसके मन में उदासीनता आ जाती है। कोई-कोई बूढ़े आदमी कहते हैं, “अब हमें कितने दिन जीना है ? दस गये, पांच रहे।” उनको जीवन में रस नहीं रह जाता, अतः वे उदासीन हो जाते हैं; परन्तु स्थितप्रज्ञ की स्थिति इसके विपरीत होती है। जीवन की अभिलाषा चली जाने से उसका मृत्यु का भय मिट जाता है। तब फिर जीवन में बस आनन्द व खेल बाकी रहता है। उसका जीवन लीलामय हो रहता है। आगे गीता में भक्तों के लक्षण बताते हुए दसवें अध्याय में कहा है, “तुष्यन्ति च रमन्ति च”। तब वे सन्तुष्ट होकर क्रीड़ा करते रहते हैं। तुकाराम कहते हैं—

तुका ह्यणे मुक्ति परिणिली नोबरी ।

आतां दीस चारी खेली-मेली ॥

अर्थात्, “मुक्ति-रूपी वधू से विवाह होगया है। अब चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द—खेल-क्रीडा ही हो रहा है।” ऐसा उनका जीवन आनन्दमय होता है।

जीवन की अभिलाषा ही वास्तविक मरण की भीति है। एक ही

वस्तु के ये दो पहलू हैं। लड़ाई पर जानेवाले सैनिक सदा हँसने-खेलने व खेल-तमाशे में मस्त रहते हैं। पास्कल जीवन की अभिलाषा ही वास्तविक मरण की भीति। उसके जाते ही जीवन आनंदमय हो जाता है

कहता है—“इसका कारण यह है कि मरण उनकी आंखों के सामने प्रतिक्षण मौजूद रहता है। उसे भूलने के लिए वे आनन्द का यह आभास खड़ा करते हैं।” मन में जीवनाभिलाषा का, दूसरे शब्दों में, मरण-भय का कांटा चुभता रहता है। उसका दुःख भूलने के लिए हँस-खेलकर उन्मादावस्था लाने का प्रयत्न करते हैं। यों भी जीवन में ऐसा अनुभव आता है। खूब हँसने-खेलने वाले लोग हम अक्सर देखते हैं। जब हम उनके निकट परिचय में आते हैं तो मालूम होता है कि उनमें कितने ही भीतर से दुःखी होते हैं। दुःख के उस शूल को भूलने के लिए वे जान-बूझकर हास्य-विनोद का वातावरण खड़ा करना चाहते हैं। मन की ग्लानि को ढांकने के लिए यह सारा उद्योग होता है। मनुष्य के मन को जो सबसे ज्यादा चुभता है वह है जीवनाभिलाषा-रूपी शूल। मरने तक यह चुभता ही रहता है और मरने के बाद भी पीछा नहीं छोड़ता। अतएव उसका दुःख भूलने के लिए वह भिन्न-भिन्न उत्सव व समारोह के रूप में कृत्रिम वातावरण खड़ा करने की कोशिश करता है; परन्तु जिसने जीने की वासना ही छोड़ दी है, उसके सारे दुःख अपने-आप मिट जाते हैं। जीवन का कांटा ही चला गया न ! तब सारी चिन्ता मिट गई, जीवन शुद्ध आनन्दमय हो गया।

छोटे बच्चों के जीवन में जो इतना आनन्द दिखाई देता है उसका रहस्य भी यही है। उनको जीने की फिक्र नहीं रहती है। अलबत्ते इसके मूल में उनका अज्ञान होता है; ‘चरति’ पद के द्वारा यही सूचित किया गया है पर यह बात पक्की है कि उन्हें किसी बात की फिक्र नहीं होती। बच्चा खेलने में मग्न रहता है, उसे खाने-पीने का भी भान नहीं रहता। उसकी भूख-प्यास मां को लगती है; इस सबसे उसका कोई सरोकार ही नहीं। छोटे बच्चे की इस अज्ञानमूलक दशा की तरह स्थितप्रज्ञ की ज्ञानमूलक

दशा होती है। वही यहां बताई गई है। 'चरति' शब्द का मर्म यही है। 'चरति' याने खेलता है, कूदता है, बिचरता है। उसके जीवन में दुःख-जैसी कोई चीज ही नहीं रहती। प्रतिज्ञा का पुनरुच्चार निगमन में किया जाता है। 'प्रजहाति यदा कामान्' इत्यादि श्लोकों में की हुई प्रतिज्ञा का स्वरूप इकहरा नहीं है। मूल प्रतिज्ञा में इतना ही नहीं कहा है कि सब कामनाएं छोड़ देता है, उसके साथ ही उसका दूसरा लक्षण भी बताया गया है—आत्मा में ही संतुष्ट रहता है। प्रतिज्ञा का यह उभयविध अर्थ निगमन में भी आना चाहिए। सारी कामनाएं छोड़ने के बाद वह अपनी आत्मा के आनन्दरूपी स्रोत में मग्न हो जाता है, यह भाव यहां 'चरति' शब्द के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। बाहर की वासनाएं चली जाने से अब भीतर का केवल विशुद्ध आनन्द बाकी रह गया।

२

'चरति' शब्द का इससे एक जुदा अर्थ बताया गया है। तिलक महाराज ने 'गीता-रहस्य' में उसका विवरण किया है। पहले एक श्लोक में 'विषयान् चरन्' ऐसे पद आये हैं। वे कहते हैं कि 'चरति' शब्द का यहां यही अर्थ करना चाहिए। उसके अनुसार 'चरति' का अर्थ है संयमपूर्वक इंद्रियों का युक्त व्यापार करना। यह अर्थ भी अनुचित नहीं है; क्योंकि यह बात नहीं कि स्थित-प्रज्ञ इंद्रियों से कुछ काम ही नहीं लेगा। आंखों से देखना, कानों से सुनना उसके लिए मना नहीं है। सेवा के लिए वह यह सब काम करेगा, परन्तु ऐसा अर्थ करने की यहां आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इस श्लोक में स्थित-प्रज्ञ की पूर्ण व्याख्या का निगमन है। अतः 'विषयान् चरन्' जैसा अर्थ यहां अपेक्षित नहीं है। फिर 'चरन्' वहां सकर्मक है, यहां 'चरति' अकर्मक है, और बिना कारण कर्म के अध्याहार की कल्पना करना उचित नहीं है।

दूसरा भी एक अर्थ स्मृति-वचनों के अनुसार किया जाता है। स्मृति का यह विधान है कि संन्यासी पुरुष सर्व-संग-परित्याग करके सदा विचरता रहे। उसका स्मरण 'चरति' शब्द से होता है,

परन्तु स्थितप्रज्ञ के लिए कोई भी विधान करने की गीता की प्रवृत्ति नहीं, क्योंकि अब उसकी ऐसी स्थिति नहीं रह जाती कि उसके लिए कोई विधान किया जाय। स्मृति वाला विधान तो आश्रम-संन्यास से सम्बन्ध रखता है, वह साधकावस्था को ध्यान में लेकर ही किया है। वह विधान इस प्रकार है—अनेक प्रकार का अनुभव प्राप्त कर चुके हुए साधक को अनासक्त रहना चाहिए, वह एक जगह रहकर आसक्ति में न पड़े, सतत फिरता रहे, इससे परिग्रह नहीं जमा हो पायेगा; परन्तु स्थितप्रज्ञ के लिए ऐसा विधान कौन बनायेगा? उसे ऐसे विधान की जरूरत भी क्या है! वह अपना विधान खुद ही जानता है। यदि यह मानें कि यह विधान नहीं वर्णन है, तो ज्ञानी पुरुष का स्थूल चरित्र वर्णन करने की प्रवृत्ति गीता में कहीं नहीं पाई जाती। ऐसे स्थूल चरित्र की कल्पना भी गीता ने नहीं की है। तो भी यदि 'चरति' शब्द से संन्यासाश्रम-सम्बन्धी स्मृति-वचन का स्मरण होता है, ऐसा कोई कहे और चित्त के तौर पर उसका उपयोग करे तो हमें आपत्ति नहीं है। परन्तु उसका ऐसा शाब्दिक अर्थ अलबत्ते हम यहां हरगिज नहीं होने देंगे।

'बिचरे विश्व होकर। विश्वमध्य।' यहां की तरह आगे भक्ति के लक्षणों में 'अनिकेतः स्थिरमतिः' ऐसा एक लक्षण बताया गया है। इसका भी अक्षरार्थ ऐसा हो सकता है—'उसका कहीं भी घर नहीं होता।' अर्थात् वह 'सतत फिरता रहता है।' परन्तु इस अर्थ को पचाकर ज्ञानदेव ने उसमें से नवीन व सरस निचोड़ निकाला है—

वायूसि एके ठाई। विठारों जैसैं नाहीं।

तैसा न धरो च कहीं। आश्रयो जो॥

हैं विश्वचि माझे घर। ऐसी मति जयाची स्थिर।

किबहुना चराचर। आपण जाला॥”

अर्थात्—“जैसे वायु का कहीं एक जगह डेरा नहीं होता, वैसे

जो कहीं भी आश्रय लेकर नहीं रहता, जिसकी यह मति स्थिर हो गई कि सारा विश्व ही मेरा घर है, बल्कि जो खुद ही चराचर-रूप हो गया।" सारा विश्व ही उसका घर हो गया। वह बे-घर का नहीं रहा ! ऐसी ही विचारशीलता ज्ञानदेव ने इस जगह भी अर्थ करने में दिखाई है। 'चरति' शब्द का अर्थ यहां उन्होंने किया है, 'बिचरे विश्व होकर, विश्व मध्य।' अक्षरार्थ भी न छूटने पाये, उसका बोझ भी न पड़ने पाए—ऐसी कुशलता से भाष्य करने की कला ज्ञानदेव ने यहां दिखाई है। संस्कृत में ज्ञानी पुरुष के संचार के लिए 'विहार' शब्द है। हमारे देश में भी पूर्व में एक विहार यानी बिहार-प्रान्त है। किसी ज्ञानी पुरुष के विहार के स्मारक के रूप में एक सारे प्रान्त ही का नाम बिहार रख देने का ऐसा उदाहरण बहुत कम मिलता है। बुद्ध के विहार की स्मृति के रूप में हमारे धर्म-प्राण पूर्वजों ने इस प्रान्त का नाम 'बिहार' रख दिया। 'बिहार' का अर्थ है सहज आनन्द से सैर करना, क्रीड़ा करना, खेलना, विचरना। यही अर्थ यहां 'चरति' शब्द के द्वारा अभिप्रेत है। समस्त कामनाओं का व जीवन-स्पृहा का भी निरास हो जाने के बाद जीवन एक विहार अथवा क्रीड़ा ही बन जाता है।

परन्तु तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिसकी जीवनाभिलाषा ही बाकी नहीं रही और महज शरीर बच रहा तो उसके लिए अब काम क्या रहा ? तत्त्व-ज्ञान में यह प्रश्न कालना और जीवनाभिलाषा छूटने पर अब शरीर बाकी रहा, सो केवल उपकारार्थ। 'निर्ममो निरहंकारः' पद से यही भाव सूचित किया है

हमेशा खड़ा होता है; क्योंकि यह सिद्धांत है कि बिना कार्य के कोई भी वस्तु नहीं रह सकती। उसका उत्तर तुकाराम ने दिया है—'तुका कहे देह। बचा उपकार अर्थ।' स्थित-प्रज्ञ तो विश्वमय हो जाता है; 'मैं' व 'मेरा' यह भाषा ही वहां नहीं रहती। वह लोगों से कहता है—“अब न मैं हूं, न मेरा है; जो कुछ है सो तुम व तुम्हारा। तुम अपना संभालो”, यही अर्थ अगले चरण में समाविष्ट है—'निर्ममो निरहंकारः।' वह सब भूतों पर उपकार करने के लिए ही जीवित रहता है; परन्तु उसके शरीर के लिए सामाजिक

काम हो तो भी उसे खुद कोई सामाजिक कामना नहीं होती। इसका यह अर्थ न समझ लेना चाहिए कि उसकी व्यक्तिगत कामना मिटकर सामाजिक कामना बाकी रहती है। 'सर्व कामना' में सामाजिक कामनाएं भी आ गई। उन्हें भी वह छोड़ देता है। तो फिर वह सामाजिक कार्य कैसे करता है? वह उसकी साधकावस्था और सामाजिक आवश्यकता के प्रवाह से उसके द्वारा होता है। साधकावस्था की प्रेरणाएं उसके स्वभाव में घुल-मिलकर उसके अंग-रूप बन जाती हैं व दूसरी तरफ समाज की आवश्यकता का प्रवाह तो सतत बहता ही रहता है। ये उससे काम करवा लेते हैं। इस तरह वह महज प्रवाह-पतित होता है। जिसकी ऐसी स्थिति हो, उसे शान्ति प्राप्त हो, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। शान्ति पर अधिकार उसीका है; क्योंकि अशान्ति के सब कारण उसके जीवन से चले गये हैं। अहन्ता-ममता गई, शुभाशुभ-कामना गई, जीवन-स्पृहा गई, अब अशान्ति किस बात से रहे? अब तो शान्ति-ही-शान्ति बाकी रह गई।

३

पिछले श्लोक में स्थितप्रज्ञ की भावावस्था का वर्णन किया गया। यहां ज्ञानावस्था बताई गई है। वह मानो उस भावावस्था के वर्णन के पूर्वोक्त भावावस्था और क्रियावस्था से भिन्न स्थित-प्रज्ञ की यह ज्ञानावस्था बिलकुल अवर्णनीय बिलकुल विपरीत दिखाई देती है। वहां शुभाशुभ कामनाओं का प्रवेश है, यहां दोनों के लिए दरवाजा बन्द है। ज्ञानावस्था में स्थितप्रज्ञ शुभ-अशुभ दोनों के उस पार चला जाता है। वहां कोई द्वंद्व बाकी नहीं रहता। वहां न सृष्टि है, न दृष्टि। न ब्रह्मांड है, न पिंड। न यह है, न वह। न नाम, न रूप। न गुण, न कर्म। न जाति, न व्यक्ति। न सामान्य, न विशेष। न इंद्रियां, न मन। न बुद्धि, न अहंकार। तो फिर है क्या? यह कहने का साधन नहीं; क्योंकि वहां वाणी ही खतम हो जाती है। जहां वाणी शेष रहती है वहां वह अवस्था नहीं। यह कहें कि वहां स्वानुभूति है तो यह भी गलत साबित होगा। उसे शून्य भी नहीं कह सकते; अशून्य भी वह नहीं;

परन्तु इतना अलबत्ते निश्चित है कि कुछ है सही। वहां भावावस्था का भाव खतम हो जाता है। क्रियावस्था की क्रिया लुप्त हो जाती है। इससे अधिक उस अवस्था का वर्णन करना गैरजरूरी है; क्योंकि इतने वर्णन से भी उसपर कोई प्रकाश नहीं पड़ा।

परन्तु भावावस्था में स्थितप्रज्ञ की भूमिका सम्पूर्ण विश्व-रूप भगवान् को मान्य करने की होती है। उस समय उसकी भावना में

भाववावस्था में समग्रता है समग्रता होती है। वहां विश्लेषण नहीं।

किसी सुन्दर मूर्ति की नाक काट कर कोई ले आवे और पूछने लगे कि यह सुन्दर है? तो मैं कहूंगा कि सारी मूर्ति सुन्दर थी। उसके टुकड़े कर देने से टुकड़ों में सुन्दरता नहीं रहेगी, समग्रता में सुन्दरता है। यह सारा विश्व शुभ व अशुभ मिलाकर मंगलरूप है। विश्वरूप में मिलकर लीन होने की, विश्व-रूप का आदर करने की, पूजने की, उसे सारे-का-सारा निगल जाने की यह भूमिका है। 'पूजके देव देखो।'—मूर्ति की पूजा करके फिर उसे देखोगे, तो वह सुन्दर दिखाई देगी। 'बीज बो खेत देखो'—बिना बोये खेत पर जाओगे तो वहां घास-ही-घास दिखाई देगी। अपनी पवित्र भावना का ओढ़ना ओढ़कर फिर संसार की ओर देखो, तो वह परम पवित्र दिखाई देगा। मां अपने बच्चे को प्रेम से सजाती है, गहने-कपड़े पहनाती है। अतः वह उसको सुन्दर दिखाई देता है। इस तरह आत्म-भावना से विश्व को सजाओ, चमकाओ, मंडित करो, आच्छादित करो और फिर देखो। आत्मीयता के कारण वह सुन्दर व प्रिय दिखाई देगा।

इन दोनों से जुदा विवेक-प्रधान क्रियावस्था 'या निशा सर्व भूतानाम्' श्लोक में बताई गई है, वह हमने देख ही ली है। वहां शुभ बनाम अशुभ है। निष्कामता बनाम क्रियावस्था में विवेक है सकामता, अकर्तृत्व बनाम कर्तृत्व, संयम बनाम स्वच्छंदता, सत् बनाम असत्, प्रकाश बनाम अन्धकार, ऐसा वहां झगड़ा है।

ज्ञानी पुरुष को शरीर की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न समयों में ये तीन

अवस्थाएं प्राप्त होती हैं। उसकी वृत्ति की अखंडता को बाधा पहुंचाये बिना ये आती हैं और जाती हैं।
 तीनों अवस्थाएं मिलाकर स्थितप्रज्ञ की एक ही अखंड वृत्ति सच पूछिये तो यह भाषा ही ठीक नहीं है कि उसे 'वृत्ति' शेष रहती है। उसे सचमुच कोई 'वृत्ति' शेष नहीं रहती।

“कारण कां करणें । हैं आघवे तो चि जाण ।

विश्व चलतसे जेणें । परमात्मेनि ॥”

अर्थात्—“जिस परमात्मा से यह जग संचालित होता है, वही अकेला जानता है कि क्या करें व क्या न करें।” ऐसी उसकी स्थिति होती है। भगवान् को उससे जो काम कराना मंजूर होता है, समाज को जैसी आवश्यकता होती है वैसा काम उससे हो जाता है। वह स्वयंप्रवृत्ति से कुछ भी नहीं करता। पानी उधर जाता है, जिधर माली उसे ले जाता है। यदि गन्ने की तरफ ले गया तो वह उसकी मिठास बढ़ा देता है, राई की तरफ ले गया तो उसकी तेजी बढ़ा देगा। प्याज की क्यारी में ले गया तो उसकी गंध बढ़ा देगा। इस तरह पानी खुद अपना कोई अभिमान नहीं रखता। स्थितप्रज्ञ ऐसा आग्रह नहीं रखता कि अमुक करूंगा, अमुक नहीं करूंगा; अथवा कुछ-न-कुछ तो करूंगा ही या कुछ भी नहीं करूंगा। ईश्वर को उससे जो-कुछ कराना मंजूर होगा वह करा लेगा। उसे खुद कोई प्रवृत्ति बाकी नहीं रही; अतः उसकी स्थिति के लिए निवृत्ति शब्द ही ठीक है; परन्तु यदि 'वृत्ति' शब्द का ही आग्रह हो तो उसे 'अखंड वृत्ति' कहिये। शरीर की दृष्टि से क्रियावस्था, भावावस्था व ज्ञानावस्था उसे प्राप्त होती है, परन्तु इन तीनों भूमिकाओं में विरोध नहीं है। इस कारण उसकी अखंड वृत्ति में अन्तर नहीं आता। क्रिया के समय वह सज्जन व दुर्जन का विवेक रखेगा। भावावस्था में सबका संग्रह करेगा। ज्ञानावस्था में कहेगा—मेरा कोई नहीं। इस तरह उसके तीन रूप होते हैं। इन तीन भूमिकाओं को मैं स्थितप्रज्ञ की त्रिसूत्री कहता हूं। इस त्रिसूत्री का आधारभूत जो महान् प्रमेय है, उसकी चर्चा आगे करेंगे।

सोलहवां व्याख्यान

१

स्थितप्रज्ञ की जो अवस्था हमने देखी, वह स्थूल अर्थ में ईश्वर की ही समझना चाहिए। उसकी जो तिहरी अवस्था होती है उसका स्थितप्रज्ञ की तिहरी अवस्था कारण भी यही है कि ईश्वर का स्वरूप त्रिविध है। स्थितप्रज्ञ की भूमिका की वही आधारभूत नींव है। ईश्वर को किसीने देखा नहीं—और ऐसे ही कहें, तो मनुष्य को भी किसीने नहीं देखा। मनुष्य का बाह्य रूप प्रकट है। वैसे ही ईश्वर का भी बाह्य रूप प्रकट है। मनुष्य का अन्तःस्वरूप ईश्वर के अन्तःस्वरूप की तरह ही अप्रकट है। मनुष्य का प्रकट रूप छोटा-सा है, इसलिए वह मालूम होता-सा प्रतीत होता है; किंतु ईश्वर का तो प्रकट रूप यह अपरम्पार सृष्टि ही है। अतः वह मालूम न होता-सा प्रतीत होता है। सच पूछिये तो मनुष्य व ईश्वर दोनों एक-से ही प्रकट व अप्रकट हैं; परन्तु जैसे—मनुष्य को जानने का साधन है, वैसे ही ईश्वर को भी जानने का साधन हमें उपलब्ध है। वह साधन है स्थितप्रज्ञ। जबतक ऐसे स्थितप्रज्ञ सब जगह, सब समय, मिलते हैं तबतक यह कहना अनुचित न होगा कि ईश्वर को जानने का साधन हमारे पास है। अतः स्थितप्रज्ञ को मूर्तिमान् और एक छोटा-सा ईश्वर ही समझिये। स्थितप्रज्ञ की तीन भूमिकाएं ईश्वर के तीन स्वरूपों के अनुसार हुई हैं। इन तीन रूपों को मिलाकर उसका परिपूर्ण स्वरूप बनता है। जितना कुछ हमारी कल्पना में आता है और जो नहीं आ जकता, वह सब उसके उदर में समा जाता है।

ईश्वर का पहला रूप केवल शुभ है। वह मनुष्य की आकांक्षा में

दिखाई देता है । मनुष्य सदा शुभ की आकांक्षा रखता है । जो अशुभ करता है, वह भी आकांक्षी तो शुभ का ही होता है । असत्यवादी भी नहीं चाहता कि कोई उसे धोखा दे । हिंसक मनुष्य भी नहीं चाहता कि कोई उसे मार डाले । मनुष्य-हृदय की इस शुभ-विषयक आकांक्षा से ही नीति-शास्त्र का जन्म हुआ है; हो सकता है कि 'शुभ क्या है' इसका निर्णय कभी-कभी कठिन मालूम हो; परन्तु शुभ जैसी वस्तु है अवश्य और वही मनुष्य को प्रिय है । दैवी सम्पत्ति-सम्बन्धी सद्गुण बताकर भगवान् ने अर्जुन से जो कहा है कि 'तेरा जन्म दैवी सम्पत्ति ही में हुआ है' सो यह आश्वासन महज अर्जुन को ही नहीं, बल्कि सारी मनुष्य-जाति को दिया हुआ समझना चाहिए । यह सच है कि मनुष्य में दोष भी दिखाई देते हैं; परन्तु वह तो मानव के अन्दर का पशुत्व है, मानवत्व नहीं । मानवत्व शुभ है, शुभाकांक्षी है, शुभ की ओर अग्रसर है । उसका हृदय-स्थान शुभ से बना है । 'हृद्-देशेऽर्जुन तिष्ठति' जो कहा है, सो यही है ।

ईश्वर का दूसरा रूप यह विश्व-रूप है । परिपूर्ण है । उसमें शुभाशुभ सबकुछ आ जाता है । सन्तरे के फल में बीज, खूजा, छिलका सबकुछ आ जाता है । मीठा; खट्टा, दूसरा, विश्वरूप कसैला—तीनों रस आ जाते हैं । यह सब मिलकर सन्तरा बना है । इन सबको मिलाकर हमसे पूछें कि सन्तरा कैसा है तो हम कहेंगे 'बढ़िया, मीठा, मजेदार ।' बीज, खूजा या छिलके से खानेवाले का कोई प्रयोजन नहीं, उनका उसे महत्त्व नहीं, तो भी ये सब फल के रस के पोषक हैं । मनुष्य की दृष्टि से ये सब गौण हो सकते हैं; परन्तु उनसे सन्तरे में बुराई नहीं आती । 'मनुष्य की दृष्टि से' इसलिए कहा कि फल की परिभाषा में बीज ही मुख्य कहा जायगा । परन्तु दृष्टान्त में केवल सार ही ग्रहण करना चाहिए । कुल मिलाकर जगत् शुभ है; सन्तरे की तरह मधुर है । उसमें जो अशुभ प्रतीत होता है सो शुभ की शोभा बढ़ानेवाला है । वह छाया-रूप है । उस सबको मिलाकर यह

सारा विश्व-रूप सुसज्जित है। कभी उससे भय मालूम होता है तो कभी उसके प्रति आकर्षण। ग्यारहवें अध्याय में वर्णन है कि अर्जुन को उससे भय मालूम हुआ। भागवत में कहा है कि प्रह्लाद को उसे देखकर प्रेम व भक्ति उमड़ी। वह समुद्र व हिमालय की तरह रमणीय-भयानक है, आकर्षक है व विकर्षक भी। इसीलिए विश्व के द्विविध स्वरूप का वर्णन किया जाता है—‘मंगल व घोर’, ‘सौम्य और रुद्र’ दोनों प्रकार के शिवरूप हैं; परन्तु दोनों को मिलाकर वह है तो शिव ही।

ईश्वर का तीसरा रूप शुभाशुभ से परे है। सृष्टि से परे, बुद्धि से परे व आकांक्षाओं से परे; परन्तु वह सबके परे होते हुए भी सबके लिए आधार-रूप है। उसका वर्णन ही नहीं किया जा सकता। वह शुभ भी नहीं, अशुभ भी नहीं, ऐसा नकारसूचक वर्णन ही उसका

तीसरा शुभाशुभ से
परे ब्रह्म-संज्ञित

किया जा सकता है—अहंकारसूचक भाषा में इतना ही कहा जा सकता है कि वह है। बाकी सब नेति-नेति ! वेदान्त में उसे ‘ब्रह्म’ संज्ञा दी है।

गीता में ईश्वर का यह तिहरा रूप भिन्न-भिन्न स्थानों में बताया गया है। इसमें पहला ‘मानवीय आकांक्षाओं का रूप है’ जो केवल शुभ

गीता की परिभाषा में
‘सत्’ ‘सदसत्’ ‘न सत्’
‘नासत्’

है। भक्तों ने इसे चतुर्भुज रूप का माना है। यह रूप मानवीय आकांक्षाओं के अनुरूप है, अतः वास्तव में मानवीय है; परन्तु मानव के प्रत्यक्ष जीवन में वह पूर्णतया प्रकट नहीं होता, अतः उसमें दो हाथ और जोड़कर चतुर्भुज बनाया। परमेश्वर के खालिस, शुद्ध, शुभ, मंगल रूप को अपने हृदय में अनुभव करना चतुर्भुज-रूप का दर्शन करना है। गीता में इसे ‘सत्’ कहा है। ‘ॐ तत्सत्’ में जो सत् है, सो यही। उसका चित्र चतुर्भुज, चरित्र नीतियुक्त, नाम सत्। दूसरा है विश्वरूप जो ग्यारहवें अध्याय में मिलता है। उसमें शुभाशुभ का समावेश होता है। समग्रता व परिपूर्णता उस स्वरूप की विशेषता है। गीता में इसका शास्त्रीय नाम ‘सदसत्’ है। ‘सदसच्चाहमर्जुन’ इस वचन में इसी विश्व-रूप का वर्णन है। तीसरा रूप गुणातीत है। उसमें न आकार है, न विकार, न प्रकार;

परन्तु वह सर्वाधार है। गीता ने उसका शास्त्रीय नाम 'न सत् तन् नासद् (उच्यते)' रखा है। तेरहवें से लेकर पंद्रहवें अध्याय तक गीता में उसका विस्तार किया गया है।

इस तरह ईश्वर के तीन रूप और उनके अनुसार स्थितप्रज्ञ की तीन अवस्थाएं होती हैं। तर्क द्वारा विचार करने से सदसत् की कुल

चार कोटियां सम्भव हैं—(१) केवल सत्, (२) केवल असत्, (३) सदसत्, (४) न सत् नासत्। परन्तु तर्क से यद्यपि चार कोटियां होती हैं, तो भी इनमें तीन ही ईश्वर पर घटित होने-जैसी हैं। केवल 'असत्' कोटि

ईश्वर पर चरितार्थ नहीं होती, वह शैतान पर लागू होती है। ईश्वर का चौथा स्वरूप नहीं है। अतः स्थितप्रज्ञ की भी चौथी अवस्था नहीं।

२

इस अर्थ को सूचित करनेवाला एक श्लोक नवें अध्याय में आया है। 'सूचित करनेवाला' मैंने जानबूझकर कहा है; क्योंकि उसका

ईश्वर के और तदनुसार स्थितप्रज्ञ के जीवन का यह विविध स्वरूप 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये' श्लोक में सूचित

अर्थ सरल नहीं है। महाभारत में व्यासजी के जो खास श्लोक हैं उनमें वह एक है। तो भी भाष्यकारों ने अपने-अपने ढंग से उसका अर्थ खोला है। मेरी दृष्टि से उसमें से वही आशय निकलता है जिसका

हम यहां विवेचन कर रहे हैं—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।

एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् ॥

यह है वह श्लोक। इसका शाब्दिक अर्थ है—“ज्ञान-यज्ञ के द्वारा जो मेरा भजन करते हैं वे एकत्व से, पृथक्त्व से और बहुरूप से मेरे व्यापक स्वरूप का भजन करते हैं।” एकत्व से, पृथक्त्व से व बहुधा भजन करनेवाले—ये तीन अलग-अलग ज्ञानी नहीं हैं, बल्कि एक ही ज्ञानी तीन भूमिकाओं से तीन प्रकार की उपासना करता है। 'न सत् नासद् उच्यते' ऐसे निर्गुण ब्रह्मत्व का अद्वैतमय अनुभव एकत्व से

यजन करता है । 'ईश्वर केवल सत् है, असत् नहीं' ऐसी भूमिका से उपासना पृथक्त्व से किया यजन है । और 'सत्-असत् मिलाकर सारा जीवन एक है' ऐसी भूमिका से की गई उपासना बहुधा यजन है ।

ये तीनों भूमिकाएं एक ही ज्ञानी पुरुष की होती हैं । क्रियावस्था में वह ईश्वर को केवल सत्-स्वरूप देखता है । उस समय उसकी पृथक्त्व

इसका और अधिक

स्पष्टीकरण

की, अर्थात् विवेक की, भूमिका रहती है । 'पृथक्त्वेन' का अर्थ कुछ लोग करते हैं, ईश्वर में व अपने में भिन्नता मानकर

भेद-भूमिका से की गई उपासना । परन्तु वह ठीक नहीं है; क्योंकि यहां साधारण भक्ति का वर्णन नहीं होकर ज्ञान-यज्ञ का वर्णन है । भक्ति का वर्णन इसके पहले ही 'सततं कीर्तयन्तो माम्' इस श्लोक में हो चुका है । उसमें जितना चाहिए द्वैत मान लेने की भरपूर गुंजाइश है; किन्तु यहां द्वैत-भक्ति की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह ज्ञान-यज्ञ है । यहां पृथक्त्व से उपासना का 'सदसद् विवेक' ही अर्थ करना उचित है । बहुधा का अर्थ है, शुभ व अशुभ स्वरूप में अनन्त रूपों से ईश्वर सुसज्जित है, ऐसी भूमिका की उपासना । यह स्थितप्रज्ञ की भावावस्था की उपासना है । इसमें उसकी सबके प्रति अविरोध-वृत्ति सूचित की गई है । इस श्लोक का ऐसा अर्थ करना गीता में वर्णित ईश्वर के त्रिविध स्वरूप से मेल खाता है ।

सभी स्थितप्रज्ञों के जीवन में ये तीनों भूमिकाएं रहती हैं; परन्तु उनमें भी किसीके जीवन में क्रियावस्था प्रधान रहती है, तो किसीके

बाह्य जीवनाकार में भेद दिखाई देने पर भी स्थित-प्रज्ञों को तीनों अवस्थाओं का अनुभव होता है

भावावस्था व किसीके ज्ञानावस्था; और उसके अनुसार उनके बाह्य जीवनाकार में भी फर्क दिखाई देगा । परन्तु किसी भी स्थितप्रज्ञ को इनमें से सिर्फ एक ही भूमिका का नहीं, बल्कि तीनों का अनुभव रहता

है और तीनों अवस्थाओं में जो सर्व-सामान्य अखण्ड अनुभव होता है, वह भी एक ही है । तो भी प्रधानता के कारण बाह्य जीवन में फर्क होता है । इससे लोगों को भिन्न-भिन्न ज्ञानियों में तुलना करने का

भी मोह हो जाता है और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कोई किसी को श्रेष्ठ बताता है व कोई किसी को; परन्तु वास्तव में है यह मोह ही । बाहरी आकार कुछ भी हो तो भी जबतक भीतरी प्रकार एक ही है तबतक वास्तव में कोई फर्क नहीं होता । पांच रुपये का नोट हो तो क्या और पांच रुपये के सिक्के हुए तो क्या, कीमत दोनों की बराबर ही है । फर्क सिर्फ आकार का रहा; परन्तु किसी भी भूमिका का प्राधान्य हो, स्थितप्रज्ञ से जो लोकसंग्रह होता है वह समान ही रहेगा । लोक-संग्रह उसके आत्मज्ञान की बदौलत ही होता है । प्रधानता किसी भी अवस्था की हो, तो भी उस आत्म-ज्ञान में कोई फर्क नहीं पड़ता ।

३

यहां एक प्रश्न और खड़ा होता है । स्थितप्रज्ञ की इन तीनों अवस्थाओं का कहीं योग भी है या नहीं ? जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति—

मनुष्य की ये तीन अवस्थाएं जैसे एक-
ये अवस्थाएं परस्पर-सम्बद्ध दूसरी से बिल्कुल अलग हैं, वैसी ही क्या
परस्पर-उपकारक ही हैं ये अवस्थाएं बिल्कुल भिन्न-भिन्न हैं ?

मनुष्य जब नींद लेता है तो जागृति नहीं रहती व जागृति में नींद नहीं होती और स्वप्न में दोनों का पता नहीं रहता । वैसी ही स्थिति क्या स्थितप्रज्ञ की क्रियावस्था, भावावस्था व ज्ञानावस्था की है, या इनमें कोई परस्पर-सम्बन्ध भी है ? इसका उत्तर यह है कि जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति का उदाहरण यहां लागू नहीं होता; क्योंकि जागृति इत्यादि तो सामान्य मनुष्य की तरह ज्ञानी को भी होती है, परन्तु जिन तीन अवस्थाओं की हम यहां चर्चा कर रहे हैं वे तो ज्ञानी पुरुष की जागृति-काल की हैं । सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो निद्रादि-अवस्थाएं भी बिल्कुल असम्बद्ध नहीं हैं । नींद का परिणाम जागृति पर और जागृति का नींद पर काफी होता है । यदि नींद अच्छी आई हो तो जागृति भी अच्छी रहेगी और जागृति में यदि डटकर काम किया हो तो नींद भी अच्छी आती है । इसी तरह स्वप्न का भी जागृति पर और जागृति का स्वप्न पर परिणाम हुए बिना नहीं रहता । और ज्ञानी पुरुष की तो जागृति-काल की ही ये तीन अवस्थाएं हैं । अतः

इन तीनों का प्रभाव एक-दूसरी पर पड़ना ही चाहिए। यह असंभव है कि एक अवस्था में रहते हुए वह दूसरी अवस्थाओं की भूमिका से बिल्कुल अछूता बना रहे।

यह चर्चा यहां इसलिए छोड़ी कि “ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, चाण्डाल—ये सब पण्डित की दृष्टि में एक-से होते हैं।” इस गीता-वचन पर कुछ वेदान्ती कहते हैं कि “यह इस विषय में सनातनियों वाक्य भावावस्था का है। यह क्रियावस्था की तर्क-प्रणाली भ्रमपूर्ण है पर लागू नहीं होता। भावावस्था में सबको एक-सा मानने पर भी क्रियावस्था में विवेक रखना ही पड़ता है। इस स्थूल विवेक के आश्रय से गाय के साथ गाय की तरह और मनुष्य के साथ मनुष्य की तरह व्यवहार करना पड़ता है। स्थितप्रज्ञ पागल तो है नहीं। भावावस्था के अद्वैत के आधार पर क्रियावस्था का भेद न मानना मानो बड़की छाल पीपल पर चिपकाने-जैसा है।” इस तर्क-प्रणाली का आधार लेकर सनातनी कहते हैं—“आप जो यह समझते हैं कि हम ब्राह्मण व हरिजन में भेद-भाव करते हैं सो बात नहीं। वह भेद नहीं, विवेक है। अभेद का विरोध भेद से हो सकता है, विवेक से नहीं हो सकता।” उनका यह कथन विचारणीय है। यह कहना तो युक्तियुक्त है कि एक विशेष भूमिका में एक विशेष अवस्था रहेगी; परन्तु इसमें जो यह मानकर चला गया है कि इन अवस्थाओं में परस्पर सम्बन्ध नहीं है, सो ठीक नहीं है। भावना का प्रभाव क्रिया पर, क्रिया का भावना पर और ज्ञान का दोनों पर अवश्य होता है। ज्ञान व भाव अकिंचित्कर—न कुछ—नहीं हैं। वे ऐसी दियासलाई की डिबिया की तरह नहीं कि जब चाहा जेब में रख लिया व जब चाहा सुलगा लिया। वे जीवन में घुले-मिले होते हैं।

उदाहरण के लिए पहले हम क्रियावस्था व भावावस्था की तुलना करेंगे। विचार करने पर ऐसा दिखाई देगा कि क्रियावस्था पर भावावस्था का प्रभाव : सोने की अंगूठी की रक्षा करते हुए भावावस्था का प्रभाव

पड़ना ही चाहिए। मुझे सोना अंगुलियों में पहनना है तो चाहे जिस आकार का सोना नहीं चलेगा। वह अंगूठी के आकार का ही होना चाहिए। वैसे आकार का न होगा तो उससे मेरा काम नहीं चलेगा। अतः मैं उसे न लूंगा; परन्तु उसका आकार भिन्न है, इसलिए मैं उसे फेंक भी नहीं दूंगा, क्योंकि मैं सोने की कीमत जानता हूँ। भावावस्था में मुझे यह दर्शन हुआ है। यह सारा शुभ-अशुभ जगत् ब्रह्मस्वरूप है, खालिस सोना है। अब फर्ज कीजिये कि सज्जनों की एक सभा के लिए सभापति की जरूरत है तो उस समय स्थितप्रज्ञ किसी साधु पुरुष को ही उस पद के लिए चुनेगा। दुर्जन को तो नहीं पसंद कर लेगा! परन्तु ऐसा करते हुए वह दुर्जन के प्रति तिरस्कार-भाव नहीं रखेगा। दुर्जन भी तो एक आकार में परमेश्वर ही है। सज्जन दूसरे आकार में परमेश्वर है। सज्जनों की सभा के लिए सज्जनों के आकार वाला ही परमेश्वर उचित है, इसलिए उसे चुना—बस, क्रियावस्था में ज्ञानी पुरुष इस तरह बरतता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह भेद-भाव रखता है। भीतरी एकता को पहचानकर वह बाहरी व्यवहार में विवेक से काम लेता है। बाह्य व्यवहार के आकार में फर्क करते हुए वह इतनी चिन्ता रखता है कि भीतरी अभेद-भाव सुरक्षित रहे। वह समदृष्टि से देखता है, इसका अर्थ यह नहीं कि वह प्लेग और क्षय दोनों में एक ही दवा देगा। क्रियावस्था में उसे आकार देखकर चलना पड़ता है; परन्तु भावावस्था का अनुभव उसे बताता है कि विवेक से काम लेते हुए भी यह भूलना नहीं है कि यह सबकुछ ब्रह्म-रूप है। किसी भी वस्तु का अनादर मत करो। सबके प्रति आदर-भाव रखो।

एक अवस्था का अनुभव व ज्ञान दूसरी अवस्था में भूल नहीं सकता।

भावावस्था पर क्रियावस्था का प्रभाव : कुष्ठरोगी-
सेवा का दृष्टान्त

व्यवहार में भी हम ऐसा ही देखते हैं। मनुष्य बिल्कुल ऐकांतिक भूमिका लेकर नहीं रह सकता। एक विनोदशील मित्र एक मजेदार बात सुनाया करते हैं। गणित के एक प्रोफेसर घूमने निकले। रास्ते में एक शख्स ने पूछा कि स्टेशन कहां है? तो प्रोफेसर महाशय ने उत्तर दिया कि भूगोल मेरा विषय नहीं है। प्रोफेसर

साहब का खयाल था कि गणित के प्रोफेसर से भूगोल के ज्ञान का क्या वास्ता ! यह सच है कि भावावस्था की सब भावनाएं क्रियावस्था पर लागू नहीं होतीं, तो भी क्रियावस्था में भावावस्था के तत्त्व की विस्मृति नहीं हो सकती; बल्कि जिसमें भावावस्था की भूमिका प्रधान होगी वह भी क्रियावस्था के विवेक की उपेक्षा नहीं करेगा। यह नमक है, यह शक्कर है, यह लाल या पीला रंग है, या वह वस्तु चौकोर, गोल, आदि है—इन बातों का ज्ञान उसे रहता ही है। कल को यदि यह सिद्ध हो जाय कि किसी बाह्य कारण से व्यक्तिगत अथवा सामाजिक स्वास्थ्य के लिए किसी व्यक्ति को जैसे किसी कुष्ठरोगी को न छूना मुनासिब है तो वह भी अपनी क्रियावस्था में ऐसा करेगा। वह खुद इस महारोगी की सेवा करेगा। खुद अपने को खतरे में डाल देगा, परन्तु इस बात का अहतियात जरूर रखेगा कि खुद उसे यह बीमारी न लग जाय। उसका आशय यह नहीं है कि वह बीमारी खुद उसे लग जाय, बल्कि यह है कि कुष्ठरोगी का रोग दूर हो। इतना खतरा उसने मोल ले लिया कि बीमारी लगना ही हो तो मुझे लगे। पर दूसरों को न लग जाय, इसीलिए वह रोगी को समाज से दूर रखेगा और जरूरत पड़ने पर खुद भी दूर रहेगा; परन्तु इस नियम में रोगी के प्रति आस्था, अनुकम्पा व आदर-भाव रहेगा। वह इस भाव को नहीं भूलेगा कि कुष्ठ रोगी भी ईश्वर-रूप है, परन्तु समाज के बचाव के लिए वह सावधानी रखेगा, यह उसका विवेक हुआ; परन्तु यदि वह कुष्ठ रोगियों को अप-वित्र समझकर उन्हें दूर रखने लगे, उनकी सेवा की उपेक्षा करने लगे, उनका तिरस्कार करने लगे तो उसकी ईश्वर को सर्वत्र देखने की भावना बिलकुल खतम हो जायगी। फिर उसकी स्थितप्रज्ञावस्था का मतलब ही क्या रहा ? 'सब कुछ एक ही है' यह भावावस्था है, क्रियावस्था नहीं—सनातनी लोगों का यह कहना सत्य है; परन्तु उनका यह खयाल गलत है कि ये अवस्थाएं एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं। वे एक ही निष्ठा के विभिन्न प्रकार हैं। इस तरह विचार करने पर सनातनियों के कथन का सार भी दिखाई दे जायगा और असार भी मालूम हो जायगा।

सत्रहवां व्याख्यान

१

स्थितप्रज्ञ की तिहरी अवस्था का विवरण हम कर रहे हैं। ज्ञान, भाव व क्रिया—ये तीन अवस्थाएं भले ही आक्रमणकारी हों तो भी भाव द्वारा क्रिया का नियमन होता है, इसका अधिक विवरण अनुग्रहकारी जरूर हैं। अर्थात् यद्यपि वे एक-दूसरे के सिर पर नहीं चढ़ बैठतीं तो भी परस्पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहतीं।

इन्द्र-धनुष के भिन्न-भिन्न रंग यद्यपि सब अपने-अपने तौर पर जुदा दीखते हैं तो भी उनकी छटा एक-दूसरे पर झलकती है और उन सबका मिलकर इन्द्रधनुष होता है। उसी तरह ये तीन अवस्थाएं मिलकर ज्ञानी पुरुष का जीवन बनता है। उदाहरण के लिए भाव बनाम क्रिया—जैसी स्थिति हो तो क्या होगा, इसका हमने विचार किया। क्रियावस्था पर यदि भावावस्था का अनुग्रह न रहा तो विवेक की परिणति भेद में होने की संभावना है। जैसे सनातनियों की हरिजनों के खिलाफ दलील (तर्क-प्रणाली)। वस्तुतः यह दलील फिज़ूल है, क्योंकि उसमें विवेक के नाम से जो बताया गया है वह विवेक नहीं, महज भेद ही है। मनुष्य किसी भी मनुष्य-जन्म पाये हुए को जन्मतः अस्पृश्य माने तो इसमें विवेक कहाँ है ! वह तो परंपरागत मूढ़ भेद ही साबित होता है। विवेक व भेद, ये दोनों बिलकुल भिन्न-भिन्न भूमिका रखते हैं। खाद्य व अखाद्य के विचार को विवेक कह सकते हैं। विवेक के उदाहरण के तौर पर हमने कुष्ठ रोगी की मिसाल ली थी। कुष्ठ रोगी को हम दूर तो रखेंगे परन्तु उसमें उसके प्रति सहानुभूति, सेवाभाव और समादर रहना चाहिए। अलग रखना यदि प्रेमभाव-प्रेरित होगा तो वह विवेक होगा, नहीं तो वह भेद ही है। दूसरा उदाहरण

न्यायाधीश का ले सकते हैं। न्याय करते हुए न्यायान्याय-विवेक तो करना ही चाहिए, नहीं तो न्याय का कोई मतलब ही नहीं रह जाता। परन्तु उस क्रिया पर सर्वात्मभाव की मुहर लगनी चाहिए। यहां यदि सीधी-सादी भाषा में कहें तो न्याय में दया का मिश्रण चाहिए। तभी वह समुचित न्याय होगा। आत्मोपम्य-बुद्धि के बिना न्याय बदले का रूप धारण कर लेगा।

जिस प्रकार भाव द्वारा क्रिया का नियमन होना चाहिए, उसी तरह ज्ञान द्वारा भी क्रिया का नियमन होना चाहिए। ज्ञानावस्था की भूमिका इस प्रकार है—मैं शुभ व अशुभ से परे वही बात ज्ञान के द्वारा हूं। शुभ व अशुभ मेरी दृष्टि से दोनों भी। उसीसे निष्काम कर्म-त्याज्य ही हैं और क्रिया में तो शुभाशुभ-योग का जन्म होता है विवेक आवश्यक है। इस तरह ये दोनों भूमिकाएं परस्पर-विरोधी मालूम होती हैं, परन्तु ऐसी लगने पर भी वे वस्तुतः परस्पर-अनुग्राहक हैं। ज्ञानावस्था भिन्न-भिन्न हों तो भी ज्ञानी पुरुष की क्रिया पर उसके ज्ञान की प्रभा छिटकती है। उसके ज्ञान का रंग उसकी क्रिया पर चढ़ता है। उसको क्रिया उसके ज्ञान से प्रकाशित व मण्डित होती है। क्रिया में शुभाशुभ-विवेक होता हो तो भी शुभ व अशुभ दोनों मिथ्या हैं, यह ज्ञान उसे अवश्य रहता है। इससे क्रियावस्था में भी वह अलिप्त व निरहंकार रहता है। सिर्फ ज्ञानावस्था में ही सर्व-कर्म-संन्यास की भूमिका रहती है। क्रियावस्था में वह शुभाशुभ-विवेक से काम लेता है। तो भी ज्ञानावस्था के ज्ञान के कारण अहंकार या लिप्तता नहीं आने पाती। उसीमें से निष्काम कर्मयोग का जन्म होता है।

इस तरह ये तीनों अवस्थाएं परस्पर-संस्पृष्ट, परस्पर-संमिश्र हैं। ये तीनों मिलकर स्थितप्रज्ञ का एक ही परिपूर्ण व भव्य जीवन बनता है। परन्तु स्थितप्रज्ञ के जीवन का यह भव्य लक्षण जानने से हमें क्या लाभ? यह प्रश्न मन में उठ सकता है। उसका उत्तर

‘मुक्त को चिन्तते खुद ही मुक्त होते।’ अतः स्थितप्रज्ञ की अवस्था का ज्ञान साधक व समाज के लिए आवश्यक

ज्ञानदेव देते हैं—‘मुक्त को चिन्तते खुद ही मुक्त होते।’ मुक्त पुरुष के जीवन का चिन्तन करने से हमें अपनी मुक्ति के दर्शन होते हैं। मुक्ति अकेले स्थितप्रज्ञ की बपौती नहीं है, वह तो सभी की निज-वस्तु है। मुक्त पुरुष के चिन्तन से हमारी खोई हुई वस्तु खोज निकालने की दिशा हाथ लगती है। अतः उनका जीवनादर्श और जीवन-स्पर्श साधक व समाज के लिए उपयोगी है। उसकी ये अवस्थाएं यद्यपि उसके लिए स्वाभाविक हैं तो भी हमें वे प्रयत्न से ही साध्य होंगी और इसलिए अनुकरणीय हैं। हमें उस दिशा में जाना है। अपना जीवन तदभिमुख बनाना है। उसकी आदत डालनी है। सारे समाज के ऐहिक जीवन की सार्थकता भी उस जीवन के मोक्ष-प्रवण होने में है। स्थितप्रज्ञ के उदाहरण से यह मालूम होता है कि हमारा जीवन छुटकारे का साधन हो सकता है। स्थितप्रज्ञ में हमें परिपूर्ण व निर्दोष आदर्श का दर्शन होगा और लोगों के प्रयत्न में दोष रहेंगे—कमियां रहेंगी। तो भी आत्मा का स्वरूप सर्वत्र समान ही होने के कारण स्थितप्रज्ञ के जीवन की अवस्थाओं का ज्ञान साधक व समाज के लिए आवश्यक है।

२

इस जगह त्रिसूत्री में वर्णित भगवद्गीता में सत्रहवें अध्याय के अंत में ‘ॐ तत् सत्’ मंत्र के द्वारा बताया गया है। मंत्र यद्यपि शब्दात्मक है तो भी उसका सामर्थ्य विलक्षण होता है। वह वस्तु-शून्य नहीं होता। मंत्र तोप के गोले से भी बलवान् होता है। मंत्र जीवन को मोड़ता है। मंत्र के प्रभाव की प्रेरणा से मनुष्य स्वेच्छा से अपना जीवन तदनुरूप बनाने लगता है। स्थितप्रज्ञ के जीवन-पथ पर सब लोग चल सकें, इसीलिए गीता ने दयालु होकर यह चिन्तामणि-रूप मंत्र हमें दिया है। वह वेद और उपनिषदों का सार-रूप समझा जाता है।

उसमें ॐ पहला पद है। ॐ माने ईश्वर-तत्त्व—विराट्, व्यापक, विशाल ! सबका समावेश करनेवाला ब्रह्मा का सग्रूप-स्वरूप ! ॐ अक्षर

है और शब्द भी है। शब्द के रूप में ॐ का अर्थ 'हां' है। ॐ ईश्वर का 'हां' रूप है। "तुका बोले जो-जो कहें पहला पद ॐ। ॐ शब्द सो-सो विट्ठल को सोहै।" इस तरह तुका-भावावस्था की लब्धि के लिए राम ने ईश्वर का हंकारात्मक वर्णन किया भावनीय है है। वह साकार है?—'हां'। निराकार है?

—'हां' शुभ है?—हां अशुभ है?—'हां'। सगुण है?—'हां'। निर्गुण है?—'हां'। अणु है? महान् है। इत्यादि सब प्रश्नों का उत्तर है—'हां'। "इदमयः अदोमयः" वह यह भी है और वह भी है। जो कुछ कल्पना में समाता है और नहीं भी समाता है उस सबको अपने उदर में समा लेनेवाला जो व्यापक, विशाल, भव्य रूप है उसका वाचक ॐ शब्द है। अतः भावावस्था की उपलब्धि के लिए ॐ शब्द भावनीय है।

अक्षर के रूप में ॐ वर्ण-मात्र का प्रतीक माना जाता है। उसकी शुरुआत 'अ' से है और अन्त 'म' में है। इन दोनों को जोड़नेवाला सांधा है 'उ'। वर्णमाला का आरम्भ 'अ' से होकर 'म' में उसकी समाप्ति होती है। ॐ अक्षर वर्ण-मात्र का प्रतीक है वर्ण का उद्गम कण्ठ से होता है और समाप्ति ओष्ठ पर। 'अ' वर्ण का आदि कण्ठ से उच्चरित और 'म' ओष्ठ-स्थान से उच्चरित अन्तिम वर्ण है। 'म' का उच्चारण करते हुए हम दोनों ओंठ मिला लेते हैं और नाक से भी कुछ काम लेते हैं। अतः 'म' के बाद कोई वर्ण नहीं है। हम 'म' के बाद य, र, ल, व, की गिनती करते हैं; परन्तु वे आन्तर स्थान से उत्पन्न होनेवाले वर्ण हैं। कण्ठ और ओष्ठ के दरमियान उनका स्थान है। कण्ठ और ओष्ठ के बीच के स्थान से उत्पन्न होनेवाले वर्णों का प्रतिनिधि 'उ' मौजूद है। 'उ' का अर्थ है उभय, इधर व उधर की सधि मिलाने वाला।

सारांश, सर्व सारस्वत, सर्व साहित्य, सर्व शुभाशुभ वाङ्मय ॐ में आ गये। यह उपपत्ति है तो काल्पनिक, परन्तु इस तरह सारी वाणी का एक प्रतीक कल्पित करने में व्यापक, विश्व-रूप, ईश्वर-तत्त्व के चिह्न के तौर पर वह चिन्तन में उपयोगी होता है।

तुलनात्मक व्युत्पत्ति का विचार करते हुए मेरा खयाल है कि ॐ एक धातु-रूप है। 'सर्वत्र व्याप्त होकर रहना' उस धातु का मूल अर्थ है। जो स्वरूप भूत-मात्र में पिरोया हुआ है, वह ॐ है। 'उमा' शब्द में यही धातु है और उसका अर्थ है विश्वव्यापिनी देवी। इसी धातु में 'वि' उपसर्ग जोड़कर परम-व्यापक आकाश का सूचक 'व्योमन्' शब्द बना है। लैटिन का 'आम्निस' अर्थात् सर्व या विश्व इस ॐ की ही विकृति है। 'आम्निप्रेजेंट' इत्यादि अंग्रेजी शब्दों में लैटिन की यही विकृति पाई जाती है। इस तरह सारा विचार करते हुए स्थितप्रज्ञ की सकल विश्व को आलिंगन करनेवाली भावावस्था को सूचित करने के लिए 'ॐ' रूपी मन्त्रावयव बिल्कुल उपयुक्त प्रतीत होता है।

दूसरे पद 'तत्' का अर्थ है वह। जो न सत् न असत्—वह। वह यानी जो यह नहीं है, जो पास का नहीं है अर्थात् जो कल्पना से परे है। 'तत्' के चिन्तन से ज्ञानी पुरुष की ज्ञानावस्था सिद्ध होती है। 'तत् त्वं असि' तू वह है, इस वाक्य में वह अवस्था दरसाई गई है। यह कूड़ा-करकट, यह त्रिगुणात्मक जगत् तू नहीं है, तू इसके परे है। तुझे किसीका भी स्पर्श नहीं, यह बोध 'तत् त्वं असि' इस वाक्य के द्वारा कराया गया है। यही वह 'तत्' है।

तीसरा पद है 'सत्'। यह तो स्पष्ट ही है। अशुभ को छोड़कर जो शुभ को ग्रहण करता है, वह है सत्। 'सत्य का आग्रह, असत्य का त्याग' इस भूमिका को 'सत्' सूचित करता है। सत् अर्थात् 'शुद्ध' ब्रह्म।

इस तरह 'ॐ' से व्यापक ब्रह्म, 'तत्' से निर्गुण ब्रह्म और 'सत्' से शुद्ध ब्रह्म का बोध होता है। ये तीन पद ज्ञानी पुरुष की तिहरी अवस्था के द्योतक हैं। ये तीनों अवस्थाएं बिल्कुल अलग-अलग नहीं हैं।

हमने यह तो पहले देखा ही है कि ये तीनों अवस्थाएं मिलकर ज्ञानी पुरुष का एक ही जीवन बनता है। क्रिया-कुल मिलाकर 'ॐ तत् सत्' यह मन्त्र व्यापक, अलिप्त और परिशुद्ध जीवन का वाचक है। वह किसी भी पूर्ण विचार का स्वरूप है

जाते हैं उनमें उनके द्वारा किये गए कार्यों का ही मुख्यतया वर्णन होता है; क्योंकि जीवन का मुख्य दृश्य-भाग क्रिया ही है। उसके अनुसार 'सत्' को मुख्य शब्द समझना चाहिए। अर्थात् व्याकरण की भाषा में वह संज्ञा होगा। 'ॐ' व 'तत्' इन दोनों का उसको विशेषण समझना चाहिए। क्रियावस्था को मुख्य मानकर उसे मंडित करने के लिए दोनों अवस्थाओं के विशेषण जोड़ लें। उभय-विशेषण-विशिष्ट 'सत्' शब्द अर्थात् 'ॐ तत् सत्' मंत्र (ॐ अर्थात्) व्यापक, (तत् अर्थात्) अलिप्त, (सत् अर्थात्) परिशुद्ध जीवन का द्योतक होगा। इस तरह व्यापक, अलिप्त और परिशुद्ध अथवा सत्यमय यह सब मिलकर पूर्ण जीवन का स्वरूप बनता है, और यही किसी भी पूर्ण विचार अथवा पूर्ण प्रयोग का स्वरूप होगा।

उदाहरण के लिए हम सत्याग्रह का स्वरूप लें। सत्याग्रह में सत् का आग्रह और असत् का विरोध तो स्पष्ट ही है; लेकिन सत्य को अपनाकर

उदाहरणार्थ—सत्याग्रह को लें

असत्य का प्रतिकार करते समय विश्वात्म-भाव को न भूलना चाहिए। सामने वाला अर्थात् प्रतिपक्षी भी मेरा ही रूप है, यह व्यापक ज्ञान सतत बना रहना चाहिए। अपने हाथ में लगे कांटे को जिस तरह संभालकर व हलके हाथ से मैं निकालता हूं, उसी सावधानी व चिन्ता से दूसरे के जीवन के दोष निकालने का प्रयत्न करूंगा—यह ध्यान रख कि यह कार्य ऊपर से उसे सुधारने का भले ही दिखाई दे, परन्तु वस्तुतः तो यह तेरा अपना ही सुधार-कार्य है। न क्रोध कर, न चिढ़; क्योंकि जहां तुझे अशुभ दिखाई देता है वह शुभ ही है। उसे देख। उस शुभ के द्वारा उसके हृदय में प्रवेश

कर, तब तू अशुभ का भी सफलतापूर्वक प्रतिकार कर सकेगा। ॐ पद के द्वारा यही सुझाया गया है। ॐकार कहता है—जिसका तू प्रतिकार करना चाहता है, जिसे तू अशुभ समझता है वह भी ईश्वर का ही स्वरूप है, इस भावना की छाप तेरे प्रतिकार पर पड़ने दे। यही सत्याग्रह की बुनियाद है। यह सब करने के बाद यह मेरी विजय हुई, यह सब मैंने किया है, ऐसा भास न होने दे। यह ध्यान रख कि वस्तुतः यह सब खेल है, मृगजाल है। इस सबसे तेरा और उसका वास्तविक रूप अलग है। खेल में फंसकर अपना भान मत भूल। खेल खेल ही रहना चाहिए। यह निरन्तर भेद याद रहना चाहिए कि हम इससे अलग हैं। यह अलिप्तता का तत्त्व 'तत्' पद से सूचित किया गया है।

सत्याग्रह का दृष्टान्त तो उदाहरण के लिए था। सच पूछिये तो मनुष्य-जीवन के प्रत्येक आचार के लिए यही सूत्र है। पुत्र पिता से,

यही बात सारे जीवन पर
लागू होती है

पिता पुत्र से, शिष्य गुरु से, गुरु शिष्य से
तथा ऐसे ही दूसरे सम्बन्धों में परस्पर
कैसा व्यवहार करें, इसका सूत्र इस मंत्र में

दिया गया है। इस मंत्र के तीनों शब्दों को मिलाकर जो भाव बनता है वह उसके प्रत्येक शब्द में गृहीत समझना चाहिए। अगर शुभाशुभ का संग्रह करनेवाला केवल ध्यानावस्था का तत्त्व ही उसमें से अलग निकाल लें तो जीवन-व्यवहार के लिए आवश्यक विवेक ही खतम हो जायगा और अगर शुभाशुभ के परे की अकेली ज्ञान की ही भूमिका ग्रहण करें तो सारे कर्म ही लुप्त हो जायेंगे। अगर सिर्फ शुभाशुभ-विवेकयुक्त क्रिया-वस्था को अपनावें, तो विवेक के नाम पर जीवन में असंख्य भेद उत्पन्न हो जायेंगे। जीवन खण्डित और भेद-संकुल बन जायगा। इसलिए तीनों स्वरूपों का एक साथ विचार करके तब क्रिया की नीति और स्वरूप का निश्चय करेंगे, तभी वह निर्दोष होगी। ये तीनों बातें ध्यान में रखकर ही यहां स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताये गए हैं।

३

यहां पर स्थितप्रज्ञ के लक्षण समाप्त होते हैं; लेकिन हम एक बार फिर अर्जुन के मुख्य प्रश्न का आकार ध्यान से देखें तो स्थितप्रज्ञ के

लक्षणों का प्रवाह हमारी समझ में आ जायगा। अर्जुन का पहला प्रश्न है—स्थितप्रज्ञ की भाषा बताइये। भाषा उपसंहार : अर्जुन के प्रश्न का अर्थ है व्याख्या। सो एक ही श्लोक में आकार और उसके अनुसार भगवान् ने विधायक व निषेधक दोनों स्थितप्रज्ञ-लक्षणों का प्रवाह प्रकारों को मिलाकर एक परिपूर्ण व्याख्या दे दी। यों उसके प्रश्न का उत्तर दिया तो, लेकिन अर्जुन केवल व्याख्या पूछकर ही नहीं रुका। उसने यह भी पूछा कि स्थितप्रज्ञ कैसे रहता है और कैसे चलता-फिरता है ? इसका उत्तर उन्होंने ऐसा नहीं दिया कि वह इस तरह बोलता है, मधुर या कठोर बोलता है, वह इस तरह रहता है—गरीबी से या मध्यम अवस्था में रहता है, वह इस तरह चलता है—द्रुत अथवा मंद गति से चलता है, आदि। तीनों प्रश्नों का अर्थ सारे जीवन को लेकर किया है। बोलना, चलना और रहना, इसका अर्थ हम समग्र जीवन ही लेते हैं और यही अर्थ ग्रहण करके यहां उत्तर दिया गया है। फिर इस उत्तर में तीनों प्रश्नों के अक्षरार्थ के संकेत भी स्पष्ट रूप से मिलते हैं। 'कैसे बोलता है ?' इस प्रश्न के द्वारा स्थितप्रज्ञ की व्याख्या का स्थूल विवेचन अथवा उसका प्रत्यक्ष आचरण जानने की इच्छा की गई है, यह मानकर तीन श्लोकों में उसका उत्तर दिया है। उसके प्रश्न का बिल्कुल अस्पष्ट संकेत 'नाभिनन्दति न द्वेष्टि' अर्थात् वह न किसीका अभिनन्दन करता और न किसीको बुरा ही बताता है, इन शब्दों में सूक्ष्मदर्शी टीकाकारों ने खोज निकाला है। 'कैसे रहता है ?' इन शब्दों में उसने यह अवस्था कैसे प्राप्त कर ली है, किस साधना से की है, यह जिज्ञासा मानकर उसका वर्णन उपपत्ति-सहित दस श्लोकों में किया है। 'किमासीत ?' इस प्रश्न का संकेत 'असीतमत्परः' में झलकता है। अन्त में 'किं व्रजेत' ? अर्थात् फिर कैसे है ? इस प्रश्न के उत्तर में स्थितप्रज्ञ का विहार-वर्णन करनेवाली त्रिसूत्री कही गई है। 'पुमांश् चरति निःस्पृहः' इसमें 'चरति' शब्द में उस शब्द का संकेत समझ लें। कुल मिलाकर अर्जुन का प्रश्न इस तरह बनता है—(१) समाधि में स्थिर हुआ जो आपका स्थितप्रज्ञ है उसके विधायक और निषेधक दोनों रूपों को लेकर

परिपूर्ण व्याख्या क्या होगी ? (२) स्थितप्रज्ञ का प्रकट, प्रत्यक्ष, सबके लिए सुबोध अनुकरण-सुलभ लक्षण क्या होगा ? (३) किस साधन और किस उपपत्ति से उसने वे लक्षण अपने में उतारे होंगे ? (४) स्थितप्रज्ञ के इस लोक की जीवन-यात्रा अथवा जीवन-लीला के स्वरूप की भूमिका कैसी होगी ? यदि अर्जुन के इस प्रश्न का ऐसा व्यापक अर्थ करें तो फिर उससे ठीक वही अर्थ फलित होगा जो यहां दिया गया है ।

अठारहवां व्याख्यान

१

स्थितप्रज्ञ-लक्षण यहां समाप्त होते हैं। अब अन्तिम श्लोकों में स्थितप्रज्ञ-लक्षणों की फलश्रुति कही गई है; परन्तु कई लम्बे-चौड़े धर्म-ग्रन्थों की फलश्रुति जैसी बेकार होती है, वैसी पद्धति गीता की नहीं है। अनुभवसिद्ध फलश्रुति

गीता में हर जगह अनुभव-सिद्ध, युक्तियुक्त और सुनिश्चित फलश्रुति बताई गई है। यहां भी वैसी ही शास्त्रीय फलश्रुति दी गई है :

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नानां प्राप्य विमुह्यति ।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

“हे अर्जुन, इस स्थिति को ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। जो इसे प्राप्त कर लेता है वह फिर उससे नहीं डिगता, मरण-काल में भी वह स्थिति ज्यों-की-त्यों कायम रहती है और इसके फलस्वरूप वह ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त करता है।” आखिरी श्लोक में यह फलश्रुति बताई है।

यहां का ‘स्थिति’ शब्द ‘वृत्ति’ से पृथक्त्व सूचित करता है। ‘स्थितप्रज्ञ’ शब्द में भी यही शब्द प्रयुक्त हुआ है। ‘वृत्ति’ और ‘स्थिति’

‘स्थिति’ शब्द का शब्दों का अन्तर उनके धात्वर्थ पर ध्यान देने से और अधिक स्पष्ट होगा। ‘स्थिति’ में ‘स्था’ धातु है। ‘स्था’ का अर्थ है खड़े

रहना। इसमें स्थिरता का, अचांचल्य का भाव है। ‘वृत्ति’ में वृत् धातु है। इसका अर्थ है गोल-गोल घूमना, घूमते रहना। ‘वर्तुल’ शब्द में भी यही धातु है। ‘वृत्ति’ में अस्थिरता का, एक जगह टिककर न रहने का भाव है। मनुष्य की वृत्तियां टिकती नहीं हैं। वे बदलती रहती हैं। जागृति के बाद सुषुप्ति आती है और सुषुप्ति से स्वप्न। फिर जाग्रतावस्था

में कभी क्रोध-वृत्ति, व कभी मोह, उत्साह व नैराश्य आदि कई वृत्ति-भेद पाये जाते हैं। इस तरह अनेक वृत्ति-भेद होते हुए भी योग-शास्त्र ने उनके पांच वर्ग बनाये हैं। इन पांचों प्रकार की वृत्तियों से अलग होना ही 'योग' है। इसको साधने के लिए आठ सीढ़ियां बताई गई हैं। उनमें अन्तिम सीढ़ी है समाधि, अर्थात् 'ध्यान-समाधि'। लेकिन ध्यान-समाधि योग नहीं है, क्योंकि वह भी एक वृत्ति ही है। हां, वह आखिरी वृत्ति है, फिर भी वह योग नहीं है। योग अर्थात् सब वृत्तियों का अभाव अथवा अधिक सही भाषा में कहें तो सब वृत्तियों के प्रभाव का अभाव। समाधि है, ध्यान-वृत्ति का परिपाक। यों तो मनुष्य की वृत्ति या तो विक्षिप्त अर्थात् चंचल या गतिमान रहती है, अथवा शून्य होती है। समाधि में वह स्थिर होती है। स्थिर कहते ही 'स्था' धातु आ जाती है सही; परन्तु वह उतने ही समय के लिए।

समाधि से मुख्य लाभ यह होता है कि दूसरी सब वृत्तियों की हटाकर एक इष्टदेव के चिन्तन की वृत्ति ही उसमें बाकी रहती है। इष्टदेव को हम सर्वमंगल गुणों से परिपूर्ण मानते हैं, इसलिए उसके चिन्तन से चित्त का मैल धोने में बड़ी सहायता मिलती है। लेकिन यह ध्यान-समाधि भी कुछ समय बाद उतर जाती है। ध्यान-समाधि-रूप वृत्ति के भी उस पार जाने पर वृत्ति-शून्य स्थिरता प्राप्त होती है। इसे योगशास्त्र में 'प्रज्ञा' कहते हैं। इसी प्रज्ञा के स्थिर होने पर चित्त सहज ही निर्मल, प्रसन्न, शान्त व आत्म-निष्ठ रहता है। यही ब्राह्मी स्थिति है। यही स्थितप्रज्ञ की हमेशा टिकने वाली सहजावस्था होती है। समाधि की वृत्ति लानी पड़ती है। उससे व्युत्थान होता है। व्युत्थान का अर्थ है चलन। इसमें यह व्युत्थान नहीं है। ब्राह्मी स्थिति और ध्यान-समाधि में यही अन्तर है। आरम्भ में ही हमने इसे देख लिया है। उसीका यहां अधिक विवरण किया है। ब्राह्मी स्थिति नित्य है। उसके प्राप्त हो जाने पर फिर उससे चलन नहीं होता। 'नैनां प्राप्य विमुह्यति'—फिर मोह नहीं होता।

आत्म-ज्ञान और ध्यान-
समाधि का भेद : ध्यान
उतर जाता है

अन्य ज्ञानों की तरह आत्म-ज्ञान में 'पुनश्च हरि ॐ' फिर से श्री-गणेश नहीं करना पड़ता ।

'ज्ञान' व 'ध्यान' में तो भेद है ही, परन्तु आत्मज्ञान और अन्य ज्ञानों में भी भेद है । ध्यान कृत्रिम होता है । वह प्रयत्नपूर्वक स्वीकार आत्मज्ञान और अन्य ज्ञान की गई वृत्ति है । ज्ञान वैसा कृत्रिम नहीं है, का भेद । अन्य ज्ञान भार- वह प्रयत्नपूर्वक लाया हुआ नहीं होता । यह

रूप

तो हुआ ज्ञान और ध्यान का अन्तर; परन्तु अन्य सब प्रकार के ज्ञानों और आत्म-ज्ञान में भी महत्त्वपूर्ण अन्तर है । मैंने भूगोल का अभ्यास किया । परीक्षा समाप्त हुई कि अब उस ज्ञान की आवश्यकता नहीं रही । उसे भूल गये । काशी में रहते हुए युक्तप्रान्त की रेलगाड़ियों का समय-पत्रक मुझे याद था, पर अब उसकी जरूरत नहीं, भूल गया । यह ज्ञान बाह्य विषयों का होने के कारण बुद्धि के लिए भार-स्वरूप होता है । जबतक उसका उपयोग होता है तभीतक बुद्धि उनका भार वहन करती है । काम निपटते ही उसे फेंक देती है । ऐसा अवान्तर-ज्ञान का बहुत-सा बोझा बुद्धि पर लादना भारी विद्वत्ता का लक्षण समझा जाता है । भारी-भरकम विद्वत्ता का अर्थ है बुद्धि पर अधिक बोझ लादकर उसे कम क़वत बनाना । ऐसी भारी विद्वत्ता से बुद्धि में जड़ता और स्थूलता ही आवेगी । भगवान् करे, कभी ऐसी भरकम विद्वत्ता किसीको न मिले । यह बात आत्मज्ञान पर लागू नहीं होती । आत्मज्ञान बोझ नहीं है ।

ध्यान की कोटि बिलकुल अलग है । हम उपमा देते हैं, उदाहरणों से विषय को स्पष्ट करते हैं, रूपकों का उपयोग करते हैं, चित्र बनाते हैं,

आत्मज्ञान, ध्यान और
इतर ज्ञानों का अधिक
विवरण

ये सब ध्यान के ही प्रकार हैं । एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर आरोप करना ध्यान है । किसी संकेत को वस्तु का प्रतिनिधि समझना ध्यान का तत्त्व है । अर्थात् ध्यान एक

बनावट है । कागज पर हम 'आलमारी' के अक्षर कलम से लिखते हैं और लकड़ी की आलमारी का आरोप उन अक्षरों में करते हैं । यह है ध्यान । उससे ज्ञान नहीं बढ़ता । साहित्य के अलावा उसका

स्वतन्त्र उपयोग भी नहीं है। अक्षरों की उस आलमारी में घी की बरनी नहीं रखी जा सकती। वह तो सिर्फ एक वस्तु का चित्र अथवा प्रतीक है। अलग-अलग भाषाओं में ऐसे एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न प्रतीक होंगे, लेकिन किसी संकेत को वस्तु का प्रतिनिधित्व देना—यह आखिर बनावट ही है। ध्यान की तरह बाह्य विषयों का ज्ञान बनावट न होने पर भी, वह आत्मा के बाहर का होने से, उसका बोझा बुद्धि पर रहता है। यह अमुक वनस्पति है, इसके अमुक-अमुक गुण-धर्म हैं। यह सब मैंने उनपर लादा नहीं है, यह सच है, अर्थात् वस्तु-ज्ञान है, लेकिन है बाहरी। वह मुझे याद रखना पड़ेगा। किन्तु यह बात आत्म-ज्ञान में नहीं है। वह जिस तरह बनावटी नहीं है, उसी तरह बाहरी भी नहीं है। इसलिए वह एक बार प्राप्त होने पर हमेशा रहेगा। फिर उसके मलिन होने या नष्ट होने की सम्भावना नहीं है। यानी वह ज्ञान बौद्धिक नहीं, आत्मगत है। आत्मा में व्याप्त हो गया है। अब वह किसी भी प्रकार से जुदा या अलग न होगा। इसीको कहा है, “नैनां प्राप्य विमुह्यति।”

‘स्थित्वास्याम् अन्तकालेऽपि’—‘अन्तकाल में भी इस स्थिति में टिककर’ इन शब्दों का अर्थ यह करते हैं कि अन्तकाल में भी ब्राह्मी स्थिति को टिका रखना चाहिए। मनुष्य ब्राह्मी स्थिति अन्त काल में भी टिकती हैं का अन्तकाल कठिन माना जाता है। उस समय अपनी स्थिति को टिकाये रखना सरल नहीं है। तब इतने प्रयासपूर्वक प्राप्त की गई स्थिति ऐन मौके पर अर्थात् आखिरी क्षण में न कायम रही तो सारा ही किया-कराया धूल में मिल जायगा। अन्त समय में गाड़ी फिसल पड़े तो सभी चकना-चूर हो जायगा। इसलिए आमरण और मरण के समय भी उस स्थिति को टिकाये रखने की चिन्ता रखनी चाहिए, ऐसी विशेष सूचना इस वाक्य से ग्रहण की जाती है; परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। अन्तकाल का महत्त्व है, इसमें कोई संदेह नहीं; और यह भी सच है कि साधक को उसके लिए अन्त समय तक जागरूक रहना चाहिए। इसीलिए गीता के आठवें अध्याय में प्रयाण-कालीन साधना सविस्तर बताई

गई है। और वहीं यह सूचना भी दे दी गई है कि इस प्रयाण-काल की साधना को शक्य बनाने के लिए जीवन-भर वैसा अभ्यास करते रहना चाहिए। परन्तु यह सब साधकावस्था के लिए है, ब्राह्मी-स्थिति के लिए नहीं। वास्तव में ऐसी बात ही नहीं है कि ब्राह्मी-स्थिति का क्षण-मात्र के लिए अनुभव हो और बाद में शायद वह स्थिति चली जाय; और इसलिए उसे टिकाये रखने का सतत प्रयत्न करना चाहिए; क्योंकि ब्राह्मी स्थिति कोई वृत्ति नहीं है। वह तो निरन्तर रहनेवाली अवस्था है। उसे संभाल बैठने की आवश्यकता ही नहीं होती। वह तो टिकेगी ही। विकट माने जानेवाले अन्तकाल में भी वह नहीं डिगेगी। यह 'अन्तकालेऽपि' का अर्थ है। स्थिति शब्द में जो अर्थ सूचित किया गया है उसका विवरण 'नैनां प्राप्य विमुह्यति' वाक्य के द्वारा किया है। और वही फिर 'स्थित्वास्याम् अन्तकालेऽपि' वाक्यखंड के द्वारा विशद किया गया है।

ब्राह्मी स्थिति हमेशा टिकती है, आपत्काल में भी टिकती है और मरण-काल में भी टिकती है। अन्य ज्ञानों की तरह वह भूल जाने-जैसी नहीं है। एक मनुष्य को कोई बीमारी हो गई। उसने अंग्रेजी की कई परीक्षाएं दी थीं। उसने अंग्रेजी की कई परीक्षाएं दी थीं। और हुआ क्या कि अपने दीर्घकालीन और तीव्र रोग में वह अंग्रेजी का सारा ज्ञान एक-

दम भूल गया; क्योंकि वह सारा ज्ञान उसकी आत्मा के सिर लादा गया था। रोग से कमजोर हुई बुद्धि ने उसे फेंक दिया, यह ठीक ही किया। परन्तु आत्म-ज्ञान की ऐसी बात नहीं है। भले ही वह लाखों जन्मों तक प्राप्त न हो, पर एक बार प्राप्त होने पर फिर वह जा नहीं सकता। 'प्राप्त आत्म-ज्ञान—अगर—अन्त समय में भी टिका, तो ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त होता है', ऐसा 'अगर-मगर' का बखेड़ा यहां नहीं है। अगर-मगर वाले अर्थ की यहां गुंजाइश ही नहीं है। वस्तुतः यही स्पष्ट करने के लिए यह श्लोक है।

शंकराचार्य के ध्यान में यह बात आये बिना नहीं रही। अतः उन्होंने 'अगर-मगर' वाले अर्थ को टालने के लिए एक दूसरी ही तरह से

भाष्य किया है। अन्तकाल में, अर्थात् बिलकुल अन्तिम क्षण में भी यदि यह स्थिति प्राप्त हो जाय तो भी मनुष्य शंकराचार्य का विशेष ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त कर लेगा, ऐसा उन्होंने अर्थ उपयुक्त, लेकिन अनावश्यक अर्थ किया है। आचार्य का यह कथन सत्य है; लेकिन इस श्लोक के शब्दों से वैसा अर्थ निकालने की जरूरत नहीं मालूम होती। 'स्थित्वास्याम् अन्त-कालेऽपि' इन शब्दों का स्वारस्य या खूबी उसमें नहीं है। यह अवस्था इतनी दृढ़ और अडिग होती है कि अत्यन्त विकट माने जानेवाले अन्त समय को भी दाद नहीं देती, उस समय भी यह नहीं गड़-बड़ाती। ऐसी इस श्लोक की ध्वनि दिखाई देती है। आचार्य का अर्थ अनर्थ तो नहीं, परन्तु शब्द से दूर चला जाता है। और जो अर्थ ब्राह्मी स्थिति को टिकाने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता बताता है, उसे तो महज अर्थवाद ही कहना पड़ता है।

२

अन्त में 'ब्रह्म-निर्वाणम् ऋच्छति' इस वाक्य के द्वारा फल-श्रुति बताई गई है। 'स्थितप्रज्ञ' की तरह 'ब्रह्म-निर्वाण' भी गीता का अपना विशिष्ट शब्द है। 'ब्रह्म-निर्वाण' का अर्थ है गीता का परम लक्ष्य ब्रह्म-निर्वाण। वही जीवन की सफलता ब्रह्म में मिलना, घुल जाना, लीन हो जाना। 'ब्रह्म-निर्वाण को जाता है,' इसका अर्थ यह नहीं कि ब्रह्म किसी दूसरी जगह है और उसमें लीन होने के लिए कहीं जाता है। मुझमें और ब्रह्म में बाह्यतः देहाभिमान का पर्दा पड़ा दिखाई देता है। उस परदे का नष्ट हो जाना ही ब्रह्म में लीन हो जाना है। ब्रह्म तो मैं पहले से ही हूँ। देहाभिमान-रूपी परदा हटाकर ब्रह्म में लीन होना, उसमें मिल जाना, इसीमें मनुष्य-जीवन की सफलता है, इस आशय का सूचक शब्द 'ब्रह्म-निर्वाण' है। सारांश यह कि इस शब्द के द्वारा गीता यही सूचित करती है कि सारा जीवन-व्यापार, व्यक्तिगत संसार, समाज-सेवा, ज्ञान-संपादन, ध्यान आदि सब बातें इसी उद्देश्य को सामने रखकर करनी चाहिए।

ब्रह्म अर्थात् विशाल, व्यापक । संकुचित जीवन को छोड़कर ब्रह्मरूप होना हमारा ध्येय है । एक जीवन दूसरे की अपेक्षा बड़ा है । इस तरह दूसरे से तीसरा बड़ा है । जीवों में परस्पर ऐसा तर-तम-भाव पाया जाता है तब भी ब्रह्म की तुलना में जीव बहुत छोटा है । कितना ही हो, फिर भी वह परिमित है । एक सीमा में बंधा हुआ है । यह बढ़ता छोड़कर, आजाद, खुला होना, व्यापक होना, उसका ध्येय है । उस दिशा में प्रगति करना, उत्तरोत्तर व्यापकतर होते जाना यह साधना की दिशा है । व्यापकतम स्थिति प्राप्त होने का ही अर्थ है ब्रह्म-निर्वाण । वहां देह का परदा हट जाता है । यों देखा जाय तो देह साधक के लिए एक साधन-रूप है । कुछ समय तक वह साधना के लिए उपयोगी होता है । आगे मनुष्य की स्थिति जैसे-जैसे व्यापक होती जाती है, देह को वह पीछे-पीछे छोड़ता जाता है । इस व्यापकता के अभ्यास में ही प्रारम्भिक अवस्था में देह एक साधन का काम देता है; लेकिन बाद की प्रगत अवस्थाओं में वह विघ्न-रूप होने लगता है । ज्ञान, ध्यान, उपासना, कर्मयोग इन सबके लिए प्रारम्भ में देह उपकारक होता है; पर बाद में इन सबका परिपाक विश्वव्यापी साक्षात्कार में होने पर सब कुछ आत्ममय दिखाई देने लगता है । इस अनुभूति के बाद देह निरुपयोगी होने लगता है ।

इस स्थिति में भी, बल्कि इस स्थिति में विशेषतः, उसके द्वारा लोक-संग्रह होता दिखाई देता है । लोगों की दृष्टि में वह लोक-संग्रह महान् प्रतीत होता है, पर ज्ञानी पुरुष की अपनी दृष्टि से वह अल्प होता है । जब कोई ज्ञानी पुरुष मरता है तो हमें लगता है कि बड़ा नुकसान हो गया, इतने महान् लोक-संग्रह से हम वंचित हो गये । तब भी उसकी मृत्यु-तिथि को पुण्य तिथि कहना पड़ता है । हमें वह पुण्य दिवस प्रतीत नहीं होता । तत्त्वज्ञ संतों ने हमपर यह शब्द लाद दिया है और हमने उसे चुपचाप स्वीकार कर लिया है; परन्तु

इसी स्थिति में लोक-संग्रह
परिपूर्ण होता है

महान् प्रतीत होता है, पर ज्ञानी पुरुष की अपनी दृष्टि से वह अल्प होता है । जब कोई ज्ञानी पुरुष मरता है तो हमें लगता

है कि बड़ा नुकसान हो गया, इतने महान् लोक-संग्रह से हम वंचित हो गये । तब भी उसकी मृत्यु-तिथि को पुण्य तिथि कहना पड़ता है । हमें वह पुण्य दिवस प्रतीत नहीं होता । तत्त्वज्ञ संतों ने हमपर यह शब्द लाद दिया है और हमने उसे चुपचाप स्वीकार कर लिया है; परन्तु

वह शब्द अर्थभरित है। वास्तव में वह पुण्य तिथि ही होती है। ज्ञानी पुरुष के सच्चे लोक-संग्रह की उस दिन से शुरुआत होती है। उसके पहले जो लोक-संग्रह हुआ वह वास्तव में बहुत अल्प होता है। ज्ञानी पुरुष का हो तो भी उसका शरीर तो इतना-सा ही ठहरा न ! उसके द्वारा कितना लोक-संग्रह हो सकेगा ? लेकिन शरीर के द्वारा होने के कारण वह लोक-संग्रह प्रकट रहता है, दिखाई देता है। इस दर्शन-मोह के कारण, ज्ञानी पुरुष का शरीर-पात होने पर हमें प्रतीत होता है कि बहुत बड़ा नुकसान हो गया; लेकिन सच तो यह है कि सर्वभूत-सेवा में यह शरीर आखिर बाधक ही होता रहता है।

शरीर का परदा रखते हुए सब भूतों के साथ पूर्ण समरस होना शक्य नहीं है। शरीर के कारण सबके हृदय में प्रवेश करने में बाधा आती है। जबतक हमारे पास अपने विशिष्ट हृदय का होना ही दूसरे के हृदय को पहचानने का साधक होता है, तबतक शरीर काम की चीज है। मैं खुद अपनी भूख-प्यास, सुख-दुःख इत्यादि अनुभवों से दूसरे की स्थिति को समझ पाता हूँ, इसीसे आत्मौपम्य की साधना के लिए मुझे अवसर प्राप्त होता है। मेरा हृदय जबतक दूसरे की स्थिति को समझने का नाप होता है, तबतक शरीर का काम रहता है। लेकिन सर्वभूत-हृदय का साक्षात्कार होते ही, तादात्म्य की अनुभूति होते ही, विशिष्ट देह, विशिष्ट इन्द्रियां, विशिष्ट मन, विशिष्ट बुद्धि, विशिष्ट हृदय, ये सब 'विशिष्ट' बाधक हो जाते हैं, उपाधि साबित हो जाते हैं। इसलिए इन सब उपाधियों को तोड़कर देह-भाव फोड़कर, सर्वभूत-हृदय से तादात्म्य पाना, अनन्त में लीन होना, ब्रह्म में घुल-मिल जाना, यह अन्तिम ध्येय समझ में आने-जैसा है। इसीको ब्रह्म-निर्वाण कहते हैं।

३

बौद्धों ने इसमें से ब्रह्म निकाल कर सिर्फ 'निर्वाण' शब्द को ले लिया है। इसका अर्थ इतना ही है कि बौद्धों को निषेधक भाषा पसन्द

आई। मनुष्य अपनापन छोड़ दे, अहंतारूपी मटके को फोड़ डाले, इसी भाव का सूचक 'निर्वाण' शब्द है।
 बौद्धों ने निषेधक शब्द 'निर्वाण' ले लिया मनुष्य के मरने पर उसके नाम से हम एक हांडी फोड़ते हैं। हिन्दू-धर्म-शास्त्र ने ऐसी एक विधि चला दी है। इसके मूल में यह कल्पना है कि यह यों भी 'मरा' तो कहा ही जायगा, पर इसे सच्चे अर्थ में मर जाने दो। उसकी वासना का ठीकरा फूट जाने दो, उसकी अहंता का नाश हो जाने दो। शरीर की राख कर डालने का हेतु भी यही है। बाप मर गया, उसे गाड़ दिया और समाधि पर आम का पेड़ लगाया। उसमें आम लगे। हम कहते हैं, मेरे पिता की समाधि पर के ये आम हैं। मां को खेत में गाड़ा। नींबू का पेड़ लगाया। इस नींबू को मेरी मां की हड्डियों का खाद मिला। इस मोह से लोगों को छुड़ाने के लिए दहन-क्रिया शुरू की है। यह दहन-क्रिया एक महान् विचार का चिह्न है। मृत व्यक्ति किसी-न-किसी रूप में हमसे चिपका रहे—यह मोह किसलिए? मैं क्या ऐसा पारसमणि हूँ जो मुझसे चिपके रहने से उसका जीव सोने का हो जायगा? मरने पर भी मनुष्य किसी-न-किसी रूप में शेष रहे, इस भाव से उसे गाड़कर उस-पर चबूतरा बनाना, निदान एक पेड़ ही लगा देना, या और कुछ नहीं तो कम-से-कम उसके नाम की एक पटिया ही लगा देना, यह मर जाने पर भी उसे फिर से पकड़ रखने के प्रयत्न जैसा ही है। इसलिए दहन का मार्ग निकला। तब भी स्मारक बनते ही हैं। जलाकर राख बना दो, फिर बिलकुल खत्म हो जायगा। इस निषेधक भावना का द्योतक होने से बौद्धों ने निषेधक शब्द पसन्द किया है। मनुष्य का मोह उसकी देह के साथ ही नष्ट हो जाय, वह शून्य हो जाय, इसीलिए बौद्धों ने अकेला 'निर्वाण' शब्द ही लिया है।

किन्तु वैदिकों ने 'ब्रह्म-निर्वाण' इस विधायक शब्द को पसन्द किया। वैदिकों को विधायक भाषा अच्छी लगी। क्यों लगी, यह देखें तो दोनों पक्षों की भाषा की मधुरता और मर्यादा ध्यान में आ जायगी। भाषा का पूर्ण रूप से निर्दोष होना संभव नहीं है। भाषा

का स्वरूप ही ऐसा विलक्षण है कि वह एक तरफ से अर्थ समझाती है तो दूसरी तरफ गलतफहमी पैदा करती है। अतः विधायक और निषेधक दोनों तरह की भाषा का भाव समझकर जो प्रतीत हुई रुचे, उसे स्वीकार करो। वैदिकों को लगा

कि मोक्ष को अभाव-रूप में कहने की अपेक्षा भाव-रूप में कहना उचित है। वैदिकों को लगा कि 'हम नष्ट हो गये', 'शून्य हो गये' कहने की अपेक्षा हम 'व्यापक हो गये', 'अनन्त हो गये' कहना अधिक अच्छा है। इसके विपरीत बौद्ध कहते हैं 'मिट गये' ऐसा कहने में घबराने क्यों हो? ज़रा हिम्मत करो। शून्य बनो। 'मिट जाने' का डर छोड़ो। "मैं अनन्त होऊंगा, व्यापक होऊंगा, सर्वमय होऊंगा"—इसमें अस्तित्व का जो मोह है उसे छोड़ दो। इसपर वैदिक कहते हैं, यहां डर और मोह का प्रश्न नहीं है। अनुभूति के विरुद्ध कल्पना कैसे करें? अवतक नाना प्रकार की साधना करके सबकुछ छोड़ा और आत्मनिष्ठ बने। जन्म-मृत्यु को पीछे छोड़कर अपना वास्तविक स्वरूप प्राप्त किया। धर्म से अधर्म का नाश किया, फल-त्याग से धर्म को आत्मसात् किया, ईश्वरार्पण के द्वारा फल-त्याग को उड़ाया, अन्त में अद्वैतानुभूति से ईश्वर को भी अपने में समा लिया, अब वह मैं ही मिटनेवाला हूं यह कैसे मानूं? सब वस्तुओं का निराकरण करने पर शेष बचनेवाला जो मैं हूं, वही व्यापक हो गया है, ब्रह्म-मय हो गया है, यही कहना अधिक युक्तियुक्त है।

लेकिन मोक्ष को भाव-रूप कहने पर भी उसमें कुछ नवीन जोड़ना है, यह आशय वैदिकों का भी नहीं है। इसके विपरीत बौद्ध

भी आत्मा के अस्तित्व का निषेध करना चाहते हैं ऐसा खयाल करना भी मेरी समझ से उनके आशय को गलत समझना है।

ऐसी गलतफहमी बहुतों को हुई है, बड़े-बड़ों को हुई है, तब भी वह है तो गलतफहमी ही। बौद्धों को 'मैं' की भाषा नहीं चाहिए। फिर बाकी कुछ भी क्यों न हो? इसलिए यह भाषा-भेद मुख्यतः रुचि-भेद

के कारण हुआ है, यही समझना चाहिए। इसमें अर्थ की दृष्टि से मुझे तो खास कोई भेद दिखाई नहीं देता। अच्छा ही है कि बौद्धों को 'मैं' से अरुचि है। अनेक हीन अनुभवों के कीचड़ में लथपथ 'मैं' की जरूरत ही क्या? और सच पूछो तो 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द में उसे कहां जगह दी गई है! सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द केवल विधायक नहीं है, वह निषेधक अर्थ को गर्भ में लिये हुए विधायक है। दोनों अर्थों के संग्राहक के रूप में ही गीता ने उसकी तजवीज की है। 'ब्रह्म-निर्वाण' कहने पर, 'मैं' चला गया, 'ब्रह्म' बाकी बचा। इसमें डरने की कोई बात ही नहीं। जहां शब्द ही समाप्त हो जाते हैं वहां शब्दों के लिए झगड़ा ही क्यों? गीता की भाषा में तो कहूंगा, "एकं ब्रह्म च शून्यं च, यः पश्यति स पश्यति", जो ब्रह्म और शून्य को एक देखता है वही देखता है। इसलिए 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द के द्वारा सारा वाद ही दिया है।

यहां स्थितप्रज्ञ का दर्शन परिपूर्ण होता है।

॥ ॐ तत् सत् ब्रह्मार्पणमस्तु ॥



